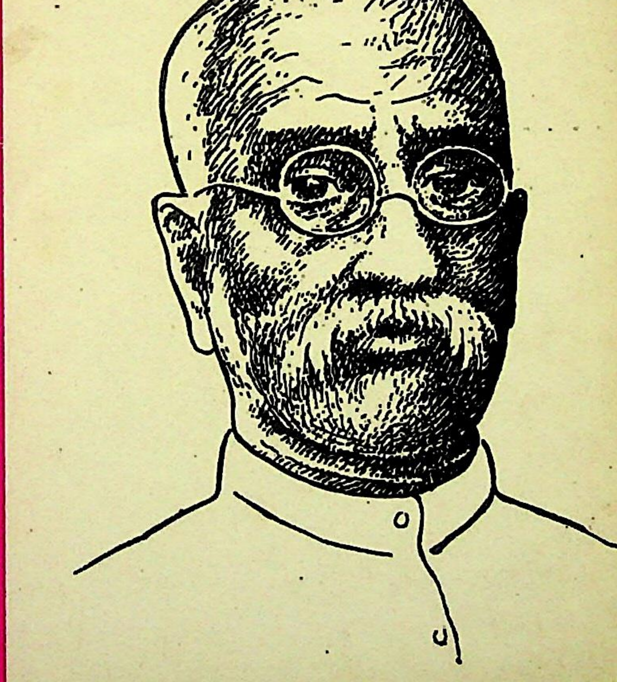
देवकीनन्दन खत्री

मधुरेश



भारतीय
साहित्य के
निर्माता

देवकीनन्दन खत्री

Supplied Under the Operation Black Board Scheme

भारतीय साहित्य के निर्माता

देवकीनन्दन खत्री

लेखक

मधुरेश

साहित्य अकादेमी

Deokinandan Khatri : A monograph by Madhuresh on the Hindi author. Sahitya Akademi, New Delhi (1999) Rs. 25.

प्रथम संस्करण : 1980
द्वितीय संस्करण : 1989
तृतीय संस्करण : 1995
पुनर्मुद्रण : 1999

साहित्य अकादेमी

मुख्य कार्यालय
रवीन्द्र भवन, फीरोज़शाह रोड़, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवन तारा बिल्डिंग, चौथी मंजिल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर मार्ग, कलकत्ता 700053
गुना बिल्डिंग, दूसरी मंजिल, 304-305, अन्ना सलाई, तेनामपेट,
चेन्नई 600018
172, मुम्बई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400014
ए डी ए रंगमन्दिर, 109, जे० सी० मार्ग, बैंगलोर 560002

ISBN 81-7201-844-4

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : अजित प्रिंटर्स, दिल्ली

दादा की स्मृति में—
जिनकी किताबों के द्वारा ही वर्षों पहले
देवकीनन्दन खत्री और उनके उपन्यासों
से परिचय हुआ था।···

भूमिका

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी कथा-साहित्य में देवकीनन्दन खत्री की स्थिति बहुत कुछ एक शलाका-पुरुष जैसी है लेकिन इसे हिन्दी आलोचना का दुर्भाग्य ही समझा जाना चाहिये कि आज तक उनसे सम्बन्धित कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है। यदि नितान्त व्यावसायिक पत्रिकाओं की बात छोड़ दी जाये, जो लेखकों की जन्म और पुण्य-तिथियों पर फ़ालतू क़िस्म की सचित्र सामग्री छापने में अग्रणी हैं, तो पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में उन पर लिखा गया एक लेख भी मेरे देखने में नहीं आया है। मेरी अपनी जानकारी की सीमा हो सकती है, तो भी वस्तुस्थिति को बहुत भिन्न प्रमाणित करना एक हद तक मुश्किल होगा।

दो वर्ष पूर्व जब मैं इलाहाबाद गया था तो अनौपचारिक बातचीत के दौरान मार्क्सवादी समझे जाने वाले एक सुप्रतिष्ठित लेखक ने, जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं देवकीनन्दन खत्री को लेकर कुछ लिखने की योजना बना रहा हूँ, इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए मुझसे पूछा था कि उन पर आखिर मैं लिखूंगा क्या? और सचमुच तब उनकी बात से मैं हतोत्साहित हुआ था क्योंकि मेरा विचार था कि आज के मुक़ाबले उन लेखक महोदय की किशोरावस्था में देवकीनन्दन खत्री का जादू कुछ ज़्यादा ही रहा होगा। मैंने जिज्ञासावश इसलिये भी देवकीनन्दन खत्री के बारे में उससे कुछ जानकारी हासिल करने की कोशिश की थी क्योंकि उनका सम्बन्ध बनारस से भी रहा है, जहाँ रहकर देवकीनन्दन खत्री ने सारा काम किया और आज भी जहाँ उनके द्वारा संस्थापित प्रेस और प्रकाशन मौजूद हैं। देवकीनन्दन खत्री सम्बन्धी अपने कार्य को लेकर कोई सहायता मुझे उससे भले ही न मिल सकी हो लेकिन उनका मूल प्रश्न बहुत कुछ एक चुनौती के रूप में, हमेशा ही मेरे सामने रहा है। आज इस सबका उल्लेख इसलिये भी ज़रूरी लगता है क्योंकि किसी व्यक्ति विशेष से अधिक यह प्रवृत्ति विशेष का उदाहरण ही अधिक है। एक मार्क्सवादी आलोचक होने के नाते यह ख्याल हमेशा मेरे सामने रहा है कि साहित्य की सामाजिक चिन्ता की उपेक्षा से बचकर और अपने प्रतिमानों को अकारण लचीला बनाये

बिना भी एक ऐसे पुराने लेखक को लेकर हमारा रवैया क्या होना चाहिये जो बहुत स्थूल ढंग से सामाजिक चिन्ता को अपने लेखन के केन्द्र में रखकर चलने का आग्रह न रखता हो? कोई भी सार्थक समझी जानेवाली आलोचना सामाजिक शक्तियों के द्वन्द्व की उपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ सकती है। परन्तु उसके साथ ही आलोचना की एक महत्त्वपूर्ण ज़िम्मेदारी यह भी है कि अपनी परम्परा को वह समुचित ऐतिहासिक संदर्भों में पुनर्मूल्यांकित और पुनर्विश्लेषित करने का ज़ोखिम भी उठाये। किसी भी लेखक का जो प्राप्य है उसके लिये सक्रिय वैचारिक संघर्ष से बचकर आलोचना के निस्तेज और अप्रासंगिक हो जाने का खतरा बढ़ जाता है। उसकी ऐतिहासिक और निजी सीमाओं के बीच किसी महत्त्वपूर्ण लेखक की उपलब्धियों की पड़ताल की जा सकती है। उस लेखक से अधिक ऐसी कोई कार्रवाई, स्वयं आलोचना के अपने हक़ में होगी। इससे आलोचना को संकीर्णता और स्थूल मतवादी आग्रहों से बचाकर रख पाना संभव हो सकेगा। देवकीनन्दन खत्री जैसे लेखक ऐसी किसी भी कोशिश के लिये एक चुनौती हो सकते हैं और मैंने उन्हें इसी रूप में लिया भी है।

मुझे इस बात का खेद है कि साहित्य अकादेमी द्वारा सौंपे गये इस काम को मैं इतना विलम्ब से पूरा कर सका हूँ। लेकिन इस बात के लिये मैं उसके प्रति कृतज्ञ भी अनुभव करता हूँ कि इस बहाने उसने मुझे नये सिरे से देवकीनन्दन खत्री को पढ़ने-समझने का मौक़ा दिया। स्वर्गीय देवकीनन्दन खत्री के पौत्र श्री कमलापति खत्री का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने पुस्तकों के अलावा भी और हर संभव सहायता देकर मेरे काम को आसान बनाया है। प्रभाकर ने वाराणसी से पुराने रिकॉर्ड की सहायता से, देवकीनन्दन खत्री की जन्म-तिथि अंग्रेज़ी हिसाब से निकलवाकर भिजवायी है, मैं इसके लिये उसके प्रति आभारी हूँ।

मधुरेश

हिन्दी विभाग
शिव नारायणदास पोस्ट ग्रेजुएट कालेज
बदायूं (उ. प्र.)
12-1-80

अनुक्रम

बिना भी एक ऐसे पुराने लेखक को लेकर हमारा रवैया क्या होना चाहिये जो बहुत स्थूल ढंग से सामाजिक चिन्ता को अपने लेखन के केन्द्र में रखकर चलने का आग्रह न रखता हो? कोई भी सार्थक समझी जानेवाली आलोचना सामाजिक शक्तियों के द्वन्द्व की उपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ सकती है। परन्तु उसके साथ ही आलोचना की एक महत्त्वपूर्ण ज़िम्मेदारी यह भी है कि अपनी परम्परा को वह समुचित ऐतिहासिक संदर्भों में पुनर्मूल्यांकित और पुनर्विश्लेषित करने का ज़ोखिम भी उठाये। किसी भी लेखक का जो प्राप्य है उसके लिये सक्रिय वैचारिक संघर्ष से बचकर आलोचना के निस्तेज और अप्रासंगिक हो जाने का खतरा बढ़ जाता है। उसकी ऐतिहासिक और निजी सीमाओं के बीच किसी महत्त्वपूर्ण लेखक की उपलब्धियों की पड़ताल की जा सकती है। उस लेखक से अधिक ऐसी कोई कार्रवाई, स्वयं आलोचना के अपने हक़ में होगी। इससे आलोचना को संकीर्णता और स्थूल मतवादी आग्रहों से बचाकर रख पाना संभव हो सकेगा। देवकीनन्दन खत्री जैसे लेखक ऐसी किसी भी कोशिश के लिये एक चुनौती हो सकते हैं और मैंने उन्हें इसी रूप में लिया भी है।

मुझे इस बात का खेद है कि साहित्य अकादेमी द्वारा सौंपे गये इस काम को मैं इतना विलम्ब से पूरा कर सका हूँ। लेकिन इस बात के लिये मैं उसके प्रति कृतज्ञ भी अनुभव करता हूँ कि इस बहाने उसने मुझे नये सिरे से देवकीनन्दन खत्री को पढ़ने-समझने का मौक़ा दिया। स्वर्गीय देवकीनन्दन खत्री के पौत्र श्री कमलापति खत्री का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने पुस्तकों के अलावा भी और हर संभव सहायता देकर मेरे काम को आसान बनाया है। प्रभाकर ने वाराणसी से पुराने रिकॉर्ड की सहायता से, देवकीनन्दन खत्री की जन्म-तिथि अंग्रेज़ी हिसाब से निकलवाकर भिजवायी है, मैं इसके लिये उसके प्रति आभारी हूँ।

मधुरेश

हिन्दी विभाग
शिव नारायणदास पोस्ट ग्रेजुएट कालेज
बदायूं (उ. प्र.)
12-1-80

अनुक्रम

1

देवकीनन्दन खत्री और उनका युग

देवकीनन्दन खत्री का जन्म 18 जून सन् 1861[1] को पूसा—मुज़फ़्फ़रपुर, बिहार में हुआ था। उनके पिता का नाम लाला ईश्वरदास था जिनके पूर्वज पंजाब के निवासी थे और मुग़लों के राज्यकाल में ऊँचे पदों पर आसीन थे। महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के वाद, उसके पुत्र शेरसिंह के शासनकाल में व्याप्त असुरक्षा एवं अराजकता से दुखी होकर लाला ईश्वरदास काशी चले आये थे और वहीं बस गये थे। उनका विवाह पूसा के रईस जीवन लाल महथा की पुत्री से हुआ था। देवकीनन्दन खत्री के बचपन का अधिकांश अपनी ननिहाल में ही व्यतीत हुआ। उनका बचपन खूब मौज़-मस्ती में वीता और उस समय के रिवाज के अनुसार उनकी प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू-फ़ारसी में ही हुई। वाद में काशी आने पर उन्होंने हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी का भी अध्ययन किया।

लाला ईश्वरदास का व्यापार खूब अच्छा था। उसी के सिलसिले में उन्होंने एक कोठी गया में भी वनवायी हुई थी। इसका सारा प्रबन्ध स्वतन्त्र रूप से देवकीनन्दन खत्री ही देखते थे। देवकीनन्दन खत्री दोस्तों के साथ सैर-तफ़रीह के शौक़ीन और महफ़िलबाज़ क़िस्म के आदमी थे। और बहुत से शौक़ों के साथ ही वे पतंगबाजी के भी शौक़ीन थे। कहा जाता है कि उस ज़माने में पाँच हज़ार रुपये उन्होंने इसी शौक़ में फूंक दिये थे। गया के ही टिकारी राज्य में काशी नरेश ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह की बहन व्याहीं थीं। चूँकि टिकारी राज्य से अपने पिता के व्यापारिक सम्बन्धों की सारी ज़िम्मेदारी देवकीनन्दन खत्री पर ही थी अतः वह बहुत कुछ अपनी मनमानी करने को स्वतन्त्र थे। राजा ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह का जब-तब टिकारी जाना होता रहता था। इसी कारण देवकीनन्दन खत्री भी उनके

---

1. आषाढ़ कृष्ण 7 सं० 1918

सम्पर्क में आये और बाद में टिकारी राज्य का प्रवन्ध सरकार के हाथ में चले जाने पर जब वह स्थायी रूप से बनारस चले आये तो इस सम्पर्क को थोड़ा और घनिष्ठ होने का अवसर मिला। लेकिन राजा का कृपापात्र होने पर भी राजदरवार में रहकर एक मुसाहिब का जीवन बिताने में उनकी रुचि नहीं थी। हो सकता है कि आत्मसम्मान और स्वतन्त्रता की भावना ने भी उन्हें इस दिशा में वढ़ने से रोका हो। परन्तु राजसम्पर्क की इस सहज सुविधा का लाभ उन्होंने अवश्य उठाया। उन्होंने चकिया और नौगढ़ के जंगलों के ठेके लिए और इस काम ने, एक विचित्र संयोग से, उनके जीवन की दिशा ही बदल दी। ठेकेदारी के इस काम में उन्हें पर्याप्त आय तो थी ही लेकिन सबसे बड़ी बात तो यह थी कि दोस्तों के जिस संग-साथ और सैर-सपाटे के वह शौक़ीन थे उन सबके लिए भी इस जीवन में भरपूर गुजाइश थी। अपने मित्रों के साथ वह लगातार कई-कई दिन तक इन बीहड़ जंगलों, पहाड़ियों और पुरानी ऐतिहासिक इमारतों के खँड़हरों की ख़ाक़ छानते रहने में गहरा आनन्द लेते थे। निर्जन और वीहड़ प्रकृति से उनका यह घनिष्ठ और आत्मीय सम्पर्क, उनके अनजाने ही, एक ऐसे जीवन की नींव रख रहा था जो अपने में एक चमत्कार ही था।

उनके मित्रों का दायरा भी स्वाभाविक रूप से वहुत बड़ा था। इसमें एकओर यदि कितनी ही रियासतों के राजा थे तो दूसरी ओर कितने ही फ़क़ीर, औलिया और तांत्रिक भी शामिल थे। यद्यपि उनके उपन्यासों में अंकित मुस्लिम पात्रों को लेकर कोई वहुत अच्छी धारणा नहीं वनती है, तत्कालीन सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों के साथ हिन्दू पाठक-वर्ग की अभिरुचियों और संस्कारों का दखल भी इसमें हो सकता है, लेकिन इनके व्यक्तिगत मित्रों में कई मुसलमान भी थे और इनमें हसन खां जिन्नी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पंडित रामानन्द प्रकृति से कवि थे जिनके 'उर्दू शतक' की प्रशंसा हुई थी। कवि के अतिरिक्त वह तांत्रिक और दुर्गा के भक्त भी थे। एक दिन जंगल में घूमते हुए इन्हीं की वन्दूक से एक शेर का शिकार हो जाने से देवकीनन्दन खत्री के जीवन की गति ही जैसे बदल गयी। उस क्षेत्र में शेर का शिकार प्रतिवन्धित था और राजा एवं उसके विशेष अतिथियों के अतिरिक्त किसी को भी इसका अधिकार नहीं था। देवकीनन्दन खत्री और उनके मित्र के साथ जो भी हुआ था महज संयोग से हुआ था लेकिन उसके अनिवार्य परिणामों ने इन सारी चीज़ों की चिन्ता नहीं की। राजा ज़ाहिर तौर पर, उनसे असन्तुष्ट और कुपित थे जिसके सवव से सारे ठेके उनसे छीन लिए गए।

अपनी इसी मनःस्थिति में, जव वह एकदम ख़ाली और दिमाग़ी तौर पर कुछ परेशान थे, उन्होंने उपन्यास लिखने की योजना वनायी और इस प्रकार 'चंद्रकांता' का पहला भाग सन् 1888 में प्रकाशित हुआ। इसमें वर्णित तिलस्म और ऐयारी

के कारनामों के कारण, आगे चलकर देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों को, हिन्दी में तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों की एक नई धारा प्रवाहित करने का श्रेय मिला —बहुत कुछ वैसे ही जैसे एक स्थान विशेष को आधार बनाकर लिखे गये सर वाल्टर स्कॉट के उपन्यास बाद में 'वेवली नावल्स' के रूप में ही जाने गए।'''एक उपन्यास के तौर पर 'चंद्रकांता' का स्वागत अभूतपूर्व और आश्चर्यजनक था। चार भागों में इसे पूरा करने के बाद देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकांता सन्तति' अर्थात रानी चन्द्रकांता और राजा वीरेन्द्र सिंह की सन्तानों की इसी कहानी को आगे बढ़ाया और चौबीस भागों में उसे पूर्ण किया। इसी क्रम को और आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने अपने पिछले उपन्यासों के एक प्रमुख ऐयार पात्र भूतनाथ को आधार बनाकर 'भूतनाथ' उपन्यास की शुरुआत की। उनका विचार इसे भी कई खंडों में विभाजित करके 'चंद्रकांता सन्तति' के समान एक बड़े उपन्यास के रूप में ही लिखने का था लेकिन अपनी असामयिक मृत्यु के कारण, 1 अगस्त 1913 को, वह उसके केवल छह भाग ही लिख सके और आगे के शेष पन्द्रह भाग उनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने लिखकर पूरे किए—जैसे संस्कृत कवि बाणभट्ट की अधूरी रचना 'कादम्बरी' उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र पुलिन्द भट्ट ने पूरी की थी। इनके अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाओं में 'नरेन्द्र-मोहनी', 'कुसुम कुमारी', 'वीरेन्द्र वीर या कटोरा भर खून', 'काजल की कोठरी', और 'गुप्त गोदना'— प्रथम भाग आदि भी हैं। 'चन्द्रकांता' के अभूतपूर्व स्वागत के बाद, उसकी अद्वितीय सफलता के परिणामस्वरूप, उसके प्रकाशन के दस साल बाद ही सन् 1898 में देवकीनन्दन खत्री ने अपना निजी प्रेस 'लहरी प्रेस' के नाम से खोल लिया और उसके बाद उनकी प्रायः सारी रचनाएँ यहीं से प्रकाशित हुई। 'उपन्यास लहरी' नाम से उन्होंने एक मासिक पत्रिका भी निकाली, जिसमें 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'भूतनाथ' धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए। माधव प्रसाद मिश्र के सम्पादन में निकलनेवाला 'सुदर्शन' भी उन्हीं की देखरेख में उन्हीं के पैसे से निकलता था।

देवकीनन्दन खत्री शक्ति के उपासक और मस्तमौला क़िस्म के जीव थे। अपने उपन्यासों की तरह ही अपने रोज़मर्रा के जीवन में भी वह विचित्रता और रोमांचप्रेमी थे। प्रायः तीन मन वज़न के वह काफ़ी स्थूल शरीर के व्यक्ति थे और शीतलपाटी पर लेटकर लम्बी निगाली का हुक्का पीने में खूब मज़ा लेते थे। एक सफल उपन्यासकार के दो गुण—उर्वर कल्पना शक्ति और अच्छी स्मृति—उन्हें भरपूर मात्रा में मिले थे। मित्रों के साथ बजरे पर गंगा की सैर करना उन्हें बहुत प्रिय था। उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद काशी के बहुत-से लेखक उनके इर्द-गिर्द जुड़ने लगे थे और उस ज़माने के प्रायः सारे प्रतिष्ठित साहित्यकार—जगन्नाथदास 'रत्नाकर', बाल मुकुन्द गुप्त, हरिकृष्ण जौहर, किशोरीलाल गोस्वामी और रामकृष्ण वर्मा आदि—उनकी मित्र मंडली के स्थायी सदस्य थे।

अपनी उर्वर और सर्जनशील कल्पना का कौतुक वह रोज़मर्रा के खेलों और मनोरंजन में भी प्राय: दिखाया करते थे। दोस्तों के बीच मैजिक लैंटर्न के जरिए भूतों का खेल दिखाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था और वास्तविकता के अज्ञान के कारण मित्रों के भयभीत होने पर उनका आनन्द और भी बढ़ जाता था। एक बार अपने कुछ मित्रों की सहायता से गंगा के पार रेती पर आग जलाकर उस पर राख का चूरा फेंककर और बहुत से लोगों को आग उगलते सियार दिखाकर सचमुच ही डरा दिया था। इससे भयभीत होकर लोग गंगा किनारे बँधे बजरे को बीच गंगा में ले जाने का इसरार करने लगे थे ताकि वे आग उगलते सियार वहाँ तक न पहुँच सकें। तरह-तरह के जीव-जन्तुओं की शक्लों की पतंगें बनाकर उड़ाना उन्हें बहुत प्रिय था। एक बार पतंग में लुक्के बाँधकर उड़ाये थे। जलते हुए लुक्के दूर-दूर तक शहर में गिरते रहे थे और कई दिनों तक उनकी चर्चा शहर में होती रही थी। वास्तविकता से अनभिज्ञ बहुत से ज्योतिषियों ने मौक़े के लाभ उठाने की गरज से उस आधार पर अशुभकाल की घोषणाएँ भी करनी शुरू कर दी थीं। इत्रदान में लगे शीशे के ताश के पत्तों को देखकर, मित्रों की जानकारी में आए बिना, ताश के जादू में महारत की सनद भी उन्होंने कलकत्ता से आए मित्रों से सहज ही प्राप्त कर ली थी।

देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों का उस युग में जैसा स्वागत हुआ और जितने कम समय में वह एक मौलिक उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए उस सबको देखते हुए बहुतों को यह भ्रम हो सकता है कि एक लेखक के रूप में उनका रास्ता बहुत सीधा और सरल, विघ्न-बाधाओं से मुक्त रहा होगा। लेकिन ऐसा नहीं है। एक ओर अभूतपूर्व स्वागत और दूसरी ओर घनघोर विरोध—यह द्वन्द्वात्मक स्थिति ही वस्तुत: उनके विकास के मूल में थी। सन् 1903 में बम्बई से लज्जाराम मेहता के सम्पादन में प्रकाशित 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' और खत्री जी की देखरेख एवं माधवप्रसाद मिश्र के सम्पादन में प्रकाशित 'सुदर्शन' में 'चंद्रकांता' और 'चन्द्रकांता सन्तति' को लेकर एक लम्बी बहस चली। इस विवाद में दोनों पक्षों का स्वर काफ़ी तीखा और आक्रामक था। जयपुर से प्रकाशित 'समालोचक' और पटना से प्रकाशित 'बिहार बंधु' आदि पत्रों ने एक स्वर से खत्रीजी का विरोध किया—पर्याप्त उत्तेजक और काफ़ी हद तक अशालीन भाषा में। अक्टूबर 1909 की 'सरस्वती' में देवकीनन्दन खत्री के विरोध में एक टिप्पणी प्रकाशित हुई—'हिन्दी साहित्य और उसका काम' शीर्षक से। इसमें बड़ी रोषपूर्ण भाषा में उन पर यह आरोप लगाया गया कि वह भीष्म और द्रोण की सन्तानों को पथभ्रष्ट करने की कोशिश कर रहे हैं। हिन्दी में ऐसे उपन्यास लिखकर वह हिन्दी भाषा की हत्या का पाप कर रहे हैं जो कदाचित् नर-हत्या से भी अधिक भयंकर है। इधर-उधर की फिजूल 'संततियों' की रचना करना लेखकता नहीं है। यह भाषा का दुरुपयोग और मनुष्य-समाज से भारी शत्रुता का काम है।

इस सारे विवाद में जो चीज़ ख़ास तौर से ध्यान दिए जाने योग्य है वह यह कि यह विरोध मात्र एक लेखक विशेष से अधिक उस युग में व्याप्त उस स्थूल नैतिकतावादी आग्रह की ओर अधिक संकेत करता है जो उपन्यास मात्र को लेकर ही गहरे पूर्वग्रह का शिकार था। 'सरस्वती' की इस टिप्पणी के अलावा भी समय-समय पर उसके तत्कालीन संपादक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी की उपन्यास विरोधी टिप्पणियाँ प्रकाशित होती रहती थी। आलोचक और पाठक वर्ग के सारे संस्कार संस्कृत और हिन्दी काव्य की लम्बी और सुव्यवस्थित परम्परा से जुड़े हुए थे, जिसमें उपन्यास के लिए कोई स्थान नहीं था। एक भाषा के रूप में भी हिन्दी को हर कहीं उपेक्षा तथा अवमानना की दृष्टि से देखा जाता था और सारा सरकारी कामकाज उर्दू में होता रहा था। ब्रिटिश सरकार की पक्षपातपूर्ण ग़लत नीतियों के कारण भी हिन्दी की स्थिति वेहद दयनीय थी। हिन्दी का मुक़ाबला एक ओर अंग्रेज़ी से था जो नौकरीपेशा मध्य एवं उच्चवर्ग में तेज़ी से फैलती जा रही थी तो दूसरी ओर उसका मुक़ाबला उर्दू और फ़ारसी से था जो कामकाज की भाषा के अलावा स्कूलों और कालिजों में शिक्षा का माध्यम भी थीं। उस काल में निकलने-वाले हिन्दी और उर्दू पत्रों का अन्तर आज किसी को भी आश्चर्य में डाल सकता है।

ब्रिटिश सरकार की भाषा सम्बन्धी नीति ने ही नहीं वरन् आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उसके क्रूर एवं अमानवीय शोषण ने भी हिन्दी में उपन्यास के रूप में एक नवविकसित साहित्यिक विधा को दूर तक प्रभावित किया। ब्रिटिश सरकार की उपनिवेशवादी नीतियों के परिणामस्वरूप देश में उद्योग-धन्धों के विकास पर समुचित ध्यान नहीं दिया जा सका। अंग्रेज़ों की छत्र-छाया में सामन्तों और ज़मींदारों के दोहरे शोषण के शिकार कृषक वर्ग की स्थिति और भी दयनीय थी। सिंचाई की व्यवस्था और कृषि सम्बन्धी सुधारों को लेकर सरकार की उदासीनता के कारण स्थिति और भी बिगड़ती जा रही थी। अकाल और ऊँचे करों के कारण हिन्दी भाषी क्षेत्रों की हालत वेहद खराब थी। इस घोर ग़रीबी की हालत में लोगों की सांस्कृतिक विपन्नता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। स्कूलों की संख्या बहुत कम थी। तत्कालीन आँकड़े बताते हैं कि सन् 1901 में साक्षरों की संख्या केवल 6.2 प्रतिशत थी। पढ़ने में रुचि रखनेवाले जो थोड़े-बहुत लोग थे वे भी आर्थिक दृष्टि से इस योग्य नहीं थे कि पत्रिकाएँ और किताबें ख़रीदकर पढ़ सकें।

भारतीय इतिहास में यह वह समय था जब पंगु प्रायः सामन्तवादी ढाँचा ब्रिटिश साम्राज्य की बैसाखियों का सहारा लेकर लड़खड़ाता हुआ बढ़ रहा था। तब आर्य समाज और राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हो चुका था। उसकी तत्कालीन

भूमिका को देखते हुए आर्य समाज को एक प्रगतिशील सामाजिक-धार्मिक आंदोलन के रूप में पर्याप्त प्रतिष्ठा भी मिली लेकिन वह भी ब्रिटिश शासन के अपने विरोध की आक्रामकता को बहुत समय तक क़ायम नहीं रख सका और अपनी अन्तिम परिणति में वह मुख्यतः राजनीति विरोधी संस्था बनकर रह गया। उसके प्रारम्भ से ही 'शुद्धि आन्दोलन' के रूप में उसमें जो तत्त्व सक्रिय थे उससे साम्प्रदायिक विद्वेष को हवा मिली और इस स्थिति का ब्रिटिश सरकार ने भरपूर उपयोग भी किया। राष्ट्रीय कांग्रेस अपने जन्म के प्रारम्भिक कुछ वर्षों में मुख्यतः एक उदार-पन्थी संस्था थी जिसकी भूमिका राजनीतिक क्षेत्र में कतिपय साधारण सुधारों की माँग तक ही सीमित थी।

एक लेखक के रूप में देवकीनन्दन खत्री के सरोकार निश्चय ही भारतेन्दु-युगीन दूसरे उपन्यासकारों से भिन्न थे। इस तथ्य की ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है कि उनका लेखक बनना महज़ एक संयोग का परिणाम था। उनका आग्रह न तो श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' की तरह 'अपनी भाषा में यह नयी चाल की पुस्तक' लिखने का था जिसमें सामन्ती संस्कारों और पश्चिमी सभ्यता के दुष्प्रयत्नों की ओर संकेत करके हिन्दू आदर्शों और आचार-पद्धति का महत्त्व प्रतिपादित करना था। न ही बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' की तरह वह युवकों के सुधार और उपदेश की किसी भी इच्छा से परिचालित थे। देवकीनन्दन खत्री ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि जंगलों का ठेका खत्म हो जाने के बाद उनके आगे सबसे बड़ी समस्या समय काटने की थी। इस तरह 'चन्द्रकान्ता' के रूप में जिस बड़े उपन्यास की परिकल्पना उनके मन में आयी, उसका कोई घोषित-अघोषित सामाजिक राजनीतिक उद्देश्य नहीं था। अगर उसका कोई उद्देश्य था तो सिर्फ़ मनोरंजन की भावना थी—उसे लिखकर अपना निजी मनोरंजन और लिखने के बाद पढ़े जाने पर उस पाठक वर्ग का मनोरंजन, जो अदृश्य रूप से ही, सही उसके लिखे जाते समय कहीं-न-कहीं उनके दिमाग़ में था। हिन्दी में तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास के जिस रूप की परिकल्पना उन्होंने की उसकी प्रेरणा हो सकता है उन्हें फ़ैज़ी के 'दास्तान-ए-अमीर हम्ज़ा' व 'तिलिस्म होशरुबा' से मिली हो। चूँकि वह फ़ारसी जानते थे इसलिए यह भी बहुत मुमकिन है कि फ़ैज़ी की इस रचना को उन्होंने मूल फ़ारसी में पढ़ भी रखा हो। लेकिन इस फ़ारसी रचना में और देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में एक आधारभूत अन्तर है और यह अन्तर खासा महत्त्वपूर्ण है। देवकीनन्दन खत्री की रचनाओं में रहस्य और रोमांच का जो ताना-बाना बुना गया है वह चमत्कृत और अभिभूत करने पर भी किसी क़िस्म के अलौकिक चमत्कार से मुक्त है क्योंकि उसमें फ़ैज़ी की रचना की तरह दैवी और मानवेतर शक्तियों—देव, परी और जिन्न—का दखल नहीं है। न ही उनकी रचनाएँ किसी प्रकार के जादू-टोने को प्रश्रय देती हैं। वहाँ बड़े-से-

बड़ा चमत्कार, अगर उसे चमत्कार कहा जा सके, मानवीय बुद्धि और कौशल का परिणाम है जिसके बारे में लेखक बार-बार अपने पाठकों को विश्वास दिलाता चलता है कि कोशिश करने पर वे स्वयं भी ऐसा कर सकते हैं। शुरू-शुरू में जो घटनाएँ जादू जैसी लगती हैं रहस्य और रोमांच का उद्देश्य पूर्ण हो जाने के बाद, लेखक उनके लिए तर्कसंगत और विश्वसनीय कारण जुटाने की कोशिश करता है। क़िस्म-क़िस्म के जिन यन्त्रों की परिकल्पना इन उपन्यासों में की गयी है उन पर उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों की छाया तो है लेकिन उनमें से बहुत-सी चीज़ें ऐसी भी हैं जो लेखक की अपनी उर्वर कल्पना-शक्ति का परिणाम हैं। इसे सचमुच ही देश का दुर्भाग्य कहना चाहिए, और उससे भी अधिक हिन्दी भाषी क्षेत्र का, कि कल्पना प्रसूत इन यन्त्रों और उपकरणों के कैसे भी प्रयोग और आविष्कार की प्रेरणा उसने नहीं ली। उसके विपरीत एक लेखक के रूप में देवकीनन्दन खत्री की अवमानना और उपेक्षा का मूल कारण भी वे ही चीज़ें बनीं। साहित्य के आलोचकों ने न केवल यह कि उन्हें किसी प्रकार की साहित्यिक मान्यता देने से इंकार कर दिया बल्कि मानवीय बुद्धि और कल्पना के इस असाधारण चमत्कार को भांडों, विदूषकों और मदारियों के काम जैसा क़रार देकर उनके ज़िन्दा रहते हुए उन्हें क़ब्र में दफ़ना दिया। देवकीनन्दन खत्री की जिन रचनाओं को पढ़ने के लिए लाखों लोगों ने हिन्दी सीखी, हिन्दी के आलोचकों द्वारा वे ही पढ़ी न जाकर गहरी उपेक्षा का शिकार हुई हैं। एक ओर साहित्यकारों की पूरी-की-पूरी पीढ़ी उनकी रचनाओं के हवा-पानी पर पल-पुस कर बनी-सँवरी, दूसरी ओर हिन्दी के प्रायः सारे बड़े और युग विधायक आलोचकों ने उनकी रचनाओं को अधिकतर पढ़े बिना ही उन्हें साहित्य की विशाल परम्परा से खारिज कर दिया है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए इस बात की आवश्यकता आज और भी अधिक है कि देवकीनन्दन खत्री की रचनाओं के सम्यक् और सन्तुलित मूल्यांकन के बाद उनकी भूमिका के ऐतिहासिक सन्दर्भ को स्पष्ट किया जाये।

2

कृतियाँ

चन्द्रकान्ता

सन् 1888 ई० में अपने 'चन्द्रकान्ता' भाग-1 के साथ जब देवकीनन्दन खत्री ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु हो चुकी थी। लेकिन उन्होंने जिस राष्ट्रीय और जातीय साहित्यिक परम्परा की नींव रखी थी उनके मण्डल के उनके सहयोगी लेखक उसके विकास में सक्रिय थे। स्पष्ट ही देवकीनन्दन खत्री ऐसे किसी रचनात्मक उद्देश्य से परिचालित नहीं थे। श्रद्धाराम फिल्लौरी, श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास आदि ने सुधारवादी सामाजिक उपन्यास की जो धारा प्रवाहित की थी उस सबसे भिन्न 'चन्द्रकान्ता' हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक नये आग्रह के साथ उपस्थित हुआ। सद्य:विकसित हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में इस प्रकार के तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास लिखने की इच्छा के पीछे हो सकता है यह भाव भी रहा हो कि हिन्दी में इस प्रकार के उपन्यास नहीं हैं अत: एक नये ढंग की शुरूआत होनी चाहिए। इस सबकी तात्कालिक प्रेरणा के तौर पर जहाँ चकिया और नौगढ़ के जंगलों, वियाबानों और खंडहरों के उनके निजी अनुभव और उन अनुभवों का रोमांच था वहीं यह भी सम्भव है कि सन् 1884 में ही फ़ैज़ी की फ़ारसी रचना 'तिलिस्म होशरुबा' का उर्दू अनुवाद भी इस क्षेत्र में कुछ करने की उनकी प्रेरणा का कारण बना हो।

'चन्द्रकान्ता' या देवकीनन्दन खत्री के अन्य उपन्यासों के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए जिन दो शब्दों का अर्थ जान लेना ज़रूरी है वे हैं—'तिलस्म' और 'ऐयार'। ये दोनों शब्द अरबी भाषा के हैं। 'तिलस्म' अरबी में भी ग्रीक भाषा से आया। ग्रीक भाषा में 'टेलेस्मा' शब्द मन्त्र-तन्त्र के लिए इस्तेमाल होता था। इसी से आगे चलकर अंग्रेजी शब्द 'टैलिस्मन' बना। तिलस्म का शाब्दिक अर्थ है—अद्भुत और आश्चर्यजनक कल्पना, 'संचित कोष की रक्षा के लिए नियत की गयी

भयावनी शक्ल या दवाओं तथा लग्नों के मेल से बँधा हुआ यन्त्र।' 'ऐयार' के अर्थ होते हैं चालाक, वेग से चलनेवाला या दूर तक दौड़नेवाला। 'चन्द्रकान्ता' की भूमिका में देवकीनन्दन खत्री ने राजदरबारों के इन ऐयारों की भूमिका पर प्रकाश डाला है और इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि इस प्रकार के लोग अपनी चालाकी, दक्षता और एक क्षण में ही वेश परिवर्तन की अपनी असाधारण पटुता के कारण राजाओं के आपसी युद्धों में अकारण रक्तपात और हिंसा को बचाकर बुद्धिचातुर्य से ही बड़े-बड़े काम निकाल लिया करते थे। एक तरह से वे राजाओं की सेनाओं के अंग होते थे जो अपनी निंजी आचार-संहिता और नीतिशास्त्र से नियन्त्रित होते थे। 'ऐयारी' शीर्षक अपने एक लेख में खत्री जी ने प्राचीन संस्कृत साहित्य के हवाले से इस विद्या एवं कला का सम्बन्ध विशाखदत्त के सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' जैसी रचनाओं से जोड़ा है। चाणक्य और उसके सहायकों ने अपनी कूटनीति से, चातुर्य और बुद्धि कौशल से, बिना युद्ध और रक्तपात के ही चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र का सम्राट बनवा दिया था। 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य और राक्षस की पारस्परिक कूटनीतिक प्रतिद्वन्द्विता वस्तुतः इस कला का चरम निदर्शन है।

'चन्द्रकान्ता' में नौगढ़ के राजा सुरेन्द्रसिंह के पुत्र राजकुमार वीरेन्द्रसिंह एवं विजयगढ़ के राजा जयसिंह की पुत्री राजकुमारी चन्द्रकान्ता की प्रेम कहानी वर्णित है। विजयगढ़ के दीवान के पुत्र क्रूरसिंह के स्वयं राजकुमारी चन्द्रकान्ता की ओर आकृष्ट होने और बाद में उसे प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के षड्यन्त्र रचने के कारण अपने नाम के अनुरूप ही उसकी स्थिति एक परम्परागत खलनायक जैसी है। उसका अन्त भी उसके कर्मों के अनुरूप ही होता है। विजय गढ़ से निकाल दिये जाने के बाद वह चुनार गढ़ के राजा शिवदत्त के यहाँ शरण लेता है, उसे राजा जयसिंह के विरुद्ध उभाड़ता है, स्वयं चन्द्रकान्ता के प्रति आकृष्ट होते हुए भी वह वीरेन्द्रसिंह और चन्द्रकान्ता की प्रेम कहानी राजा शिवदत्त को सुनाकर चन्द्रकान्ता के प्रति उसकी आसक्ति को हवा देने की कोशिश भी करता है। लेकिन बाद में ऐयारों की सहायता से, नौगढ़ और विजयगढ़ राज्य अपनी पुरानी शत्रुता भूलकर एक हो जाते हैं और उनके सम्मिलित प्रयासों से राजा शिवदत्त और उसके सहयोगियों के सारे प्रयत्न विफल होते हैं। चुनारगढ़ स्थित तिलस्म में राजकुमारी चन्द्रकान्ता और उसकी सखी चपला के बन्द हो जाने की स्थिति में अपने ऐयारों—जीतसिंह, तेजसिंह, देवीसिंह, बद्रीनाथ, जगन्नाथ ज्योतिषी और स्त्रियों में चपला और चंपा आदि की सहायता से राजकुमार वीरेन्द्रसिंह पर्याप्त कठिनाइयों और विफलताओं के बाद भी, उस तिलस्म को तोड़कर राजकुमारी चन्द्रकान्ता को मुक्त करके, और उस तिलस्म में पायी जानेवाली अकूत सम्पत्ति के स्वामी बनकर, गुरुजनों और साथियों के आशीर्वाद एवं शुभकामनाओं के बीच, राजकुमारी

चन्द्रकान्ता को पत्नी के रूप में ग्रहण करते हैं। वीरेन्द्रसिंह और चन्द्रकान्ता का यह मिलन बहुत कुछ शेक्सपियर के सुखान्त नाटकों के ढर्रे पर आयोजित है जिसमें एक साथ ही कई विवाह सम्पन्न होते हैं और यहाँ भी मुख्य विवाह के साथ ही तेजसिंह और चपला तथा देवीसिंह और चंपा भी विवाह-सूत्र में बँधते दिखाये जाते हैं।

'चन्द्रकान्ता' की कहानी हिन्दी उपन्यास के उस नवस्फुटित यथार्थवादी रुझान की अवहेलना करके आगे बढ़ती है जिसकी नींव स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी रख चुके थे। अपनी रचनावस्तु की दृष्टि से यह उपन्यास उन मध्यकालीन रोमांसों के निकट पड़ता है, जो पद्य में लिखे जाते थे। कहानी का वैचारिक आधार न होने जैसा है और जो कुछ भी वह है उसमें परम्परागत हिन्दू नैतिकता और आचार-व्यवहार को प्रतिष्ठित किया गया है। विजयगढ़ और नौगढ़ के राजा आदर्श और प्रजावत्सल राजा हैं जो ऐयारों की सहायता लेते हुए भी अपनी वीरता और जवाँमर्दी पर भरोसा रखते हैं। ऐयारों की भी अपनी आचार-संहिता और नीतिशास्त्र हैं, जिन्हें वे किसी भी क़ीमत पर छोड़ने को तैयार नहीं हैं। स्वामिभक्ति उनके चरित्र का एक विशेष गुण है जिसके अभाव में उनके अस्तित्व की कल्पना ही असम्भव है। चुनारगढ़ के जगन्नाथ ज्योतिषी और पं. बद्रीनाथ अपने स्वामी राजा शिवदत्त की कारगुजारियों से असन्तुष्ट हैं और राजकुमार वीरेन्द्रसिंह के आचार-व्यवहार से प्रभावित होने पर भी तब तक अपने स्वामी का साथ नहीं छोड़ते जब तक स्वामी स्वयं ही अपनी पराजय स्वीकार करके, भले ही अस्थायी रूप से, विरोध का अपना रास्ता नहीं छोड़ देते हैं।

'चन्द्रकान्ता के नैतिक मूल्य वस्तुतः एक सामन्ती समाज व्यवस्था में लम्बे अरसे से प्रश्रय पाते रहे मूल्य ही हैं जिनमें तत्कालीन हिन्दू सोच के अनुसार अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होना ही है। अपने मुस्लिम पात्रों के प्रति लेखक के दृष्टिकोण को स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। अधिकांश में वे कलह-कारी और षड्यन्त्र-प्रिय क़िस्म के लोग हैं जिनकी भूमिका हमेशा ही खलनायक या पराजित होनेवाली शक्तियों के साथ तय है। राजा जयसिंह की सेना में सन्देह और अविश्वास के कारण भरसक इन लोगों को अलग रखा जाता है और चुनारगढ़ की चढ़ाई में जब उन्हें साथ लेना जरूरी हो जाता है तो उन्हें सबसे आगे रखा रखा जाता है ताकि वे लोग छल न कर सकें। इतनी पेशबन्दी के बाद भी वे धोखा देने की कोशिश करते हैं, यह अलग बात है कि राजा जयसिंह और उसके ऐयारों की होशियारी के कारण वे इसमें सफल नहीं हो पाते हैं। निश्चय ही यह आर्य समाज के 'शुद्धि आन्दोलन' का प्रभाव था, जिसमें आगे चलकर, उसकी प्रगतिशील भूमिका को साम्प्रदायिक दायरे में क़ैद कर देने की दुर्भाग्यपूर्ण शुरुआत देखी जा सकती है। रंभा के वेश के चपला के प्रति राजा शिवदत्त की आसक्ति और कन्या

के प्रति स्वयं राजकुमार वीरेन्द्रसिंह का आकर्षण सामन्ती उच्छृंखलता और विलासिता के ही संकेत हैं। यह अलग बात है कि नायक की चरित्र रक्षा के लिए कथा संगठन और रहस्य का सहारा लेकर, लेखक वनकन्या को चन्द्रकान्ता ही बनी रहने देता है।

'चन्द्रकान्ता' मुख्य रूप से एक प्रेम कहानी है। लेकिन उसमें वीरेन्द्रसिंह और चन्द्रकान्ता का प्रेम जिस रूप में अंकित है वह एक बार फिर मध्यकाल में रचित काव्यों की याद दिला देता है, जिसमें सारी दैवी और सांसारिक विघ्न-बाधाओं को पार करके नायक अन्ततः नायिका को पा ही लेता है। बहुधा तो यह भी होता है कि उन बाधाओं की विनियोजना नायक की परीक्षा के लिए की जाती है कि उसका प्रेम कितना सच्चा है और वह अपने प्रिय पात्र के लिए क्या कुछ कर सकता है? 'चन्द्रकान्ता' में ये बाधाएँ अलौकिक शक्तियों का अप्रिय हस्तक्षेप न होकर कभी शत्रु पक्ष के ऐयारों द्वारा चन्द्रकान्ता को क़ैद कर लिए जाने से पैदा होती हैं, तो कभी वहाँ से निकल भागने की स्थिति में तिलस्म में फँस जाने का परिणाम होती है। इस मध्यकालीन रोमांटिक प्रेम पर रीतिकालीन और उत्तर मध्यकालीन-काव्य साहित्य की छाया भी साफ़ दिखाई देती है। रीतिकालीन नायक की तरह यहाँ वीरेन्द्र सिंह भी चन्द्रकान्ता के प्रेम में आहें भरते हैं, रोते हुए हिचकियाँ भरते हैं, उसकी तस्वीर सामने रखकर कल्पना में उससे बातें करते हैं और जब उनके ऐयार तेजसिंह की मध्यस्थता से चन्द्रकान्ता से उनकी भेंट होती है, तो वह उसे देखते ही इस सीमा तक सुध-बुध खो बैठते हैं कि बेहोश हो जाते हैं।

वीरेन्द्रसिंह के प्रेम में कमोबेश यही हालत चन्द्रकान्ता की भी है। लेखक वीरेन्द्रसिंह की हालत का वर्णन करते हुए लिखता है—"तेजसिंह को विजयगढ़ की तरफ़ विदा कर वीरेन्द्रसिंह अपने महल में आये मगर किसी काम में उनका दिल न लगता था। हरदम चन्द्रकान्ता की याद में सर झुकाये बैठे रहना और जब कभी निराला पाना तो चन्द्रकान्ता की तस्वीर अपने सामने रखकर बातें किया करना या पलंग पर लेट मुँह ढँक खूब रोना, बस यही तो उनका काम था।" (भाग 1, पृ० 16) बाद में चन्द्रकान्ता को देखते ही वीरेन्द्रसिंह के बदन में कँपकँपी शुरू हो जाती है और वह बेहोश होकर गिर पड़ता है। चन्द्रकान्ता भी तेजसिंह से, उन दोनों के मिलन की व्यवस्था न करने और वीरेन्द्रसिंह की कल्पित उदासीनता को लेकर शिकवा-शिकायत करते-करते रोने लगती है और उसकी हिचकी बँध जाती है। जीतसिंह के ऐयारी कौशल के परिणामस्वरूप चन्द्रकान्ता का वन कन्या के रूप में प्रकट होना और वीरेन्द्रसिंह का उसके प्रति गहरी आसक्ति का भाव, प्रेम के प्रति सारे आदर्श और भाववादी रुझान के बावजूद उसके स्वभाव को सामन्ती उच्छृंखलता से प्रसूत नैतिक विचलन का उदाहरण ही माना जाना चाहिए। वीरेन्द्रसिंह और चन्द्रकान्ता के साथ ही तेजसिंह और चपला की प्रेम कहानी का

संकेत भी उपन्यास में है। लेकिन उसके विकास की संभावनाओं पर बहुत कम ध्यान दिये जाने पर भी वह अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक रूप में अंकित हुई। ऐयार होने के नाते हर समय अपने काम की चिंता में डूबे रहने और व्यस्तता के कारण उन दोनों को वस्तुतः इतना मौक़ा ही नहीं मिल पाता कि वे लोग अपने प्यार को लेकर सोचें या परेशान हों। गहरी स्वामिभक्ति से परिचालित होने के परिणाम-स्वरूप अपनी चिंता से कहीं अधिक चिंता उन्हें अपने स्वामी और स्वामिनी की लगी रहती है। देवीसिंह और चंपा के प्रेम की तो चर्चा भी लेखक नहीं करता, सिर्फ़ अंत में, वीरेन्द्रसिंह और चन्द्रकान्ता के विवाह और तेजसिंह और चपला के विवाह की तरह इन दोनों का विवाह भी करा दिया जाता है।

एक उपन्यास के रूप में 'चन्द्रकान्ता' का सबसे वैशिष्ट्य यह है कि वह एक तिलस्मी कहानी में भी अलौकिक चमत्कारों और जादू टोने के तत्त्वों का तिरस्कार करता है। इसी आधार पर फ़ैज़ी की रचना 'तिलस्म होशरुबा' से भिन्न वह अपनी मानवीय सार्थकता प्रमाणित कर सकने में सफल होता है। यहाँ बड़े-से-बड़ा जो चमत्कार घटित होता है लेखक उस सबकी बुद्धिसंगत और सुग्राह्य व्याख्या देने को हमेशा ही प्रस्तुत रहता है। मनुष्य के बुद्धि कौशल और चातुर्य पर विश्वास रखने के कारण ही चन्द्रकान्ता अपने को भूत-प्रेत और जादू-टोने जैसे अन्धविश्वास से पूरी तरह मुक्त रख सकी है—"कुमारी को चपला ने बहुत ढीठ कर दिया था। कभी-कभी जब ज़िक्र आ जाता तो चपला यही कहती थी कि भूत-प्रेत कोई चीज़ नहीं, जादू-मन्त्र सब खेल कहानी है, जो कुछ है, ऐयारी है। इस बात का कुमारी को भी पूरा यकीन हो चला था···।" (भाग 2, पृ० 33) इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए उपन्यास के सिद्ध नाथ बाबा कहते हैं, "जो काम आदमी के या ऐयारों के किये नहीं हो सकता, उसे मैं भी नहीं कर सकता···।" (भाग 4, पृ० 66)

जंगल में शत्रु-पक्ष के ऐयारों को क़ैद करने के लिए तेजसिंह ने जो जगह नियत कर रखी है वहाँ शेर के मुँह में हाथ डालकर, उसकी जीभ बाहर निकालने से खुलने वाले ताले के बारे में लेखक यह दावा करना भी नहीं भूलता कि तनिक प्रयास से ही इस तरह का ताला आप भी बखूबी तैयार कर सकते हैं। बाद में शत्रु-पक्ष के ऐयारों को जब इस रहस्य का पता चल जाता है और वे नाजिम एवं हिकमत को वहाँ से ले जाने में सफल हो जाते हैं, तो तेजसिंह दोहरे ताले की व्यवस्था करता है और अपना यह रहस्य इस बार वीरेन्द्रसिंह से भी गुप्त रखता है। चुनारगढ़ खण्डहर में स्थित तिलस्म का जो बगुला चन्द्रकान्ता को निगल जाता है वह मसाले का बना है। पहले लेखक बड़े कौतूहल बढ़ानेवाले ढंग से उसका वर्णन करता है और फिर बाद में उस उपाय की ओर स्वयं ही संकेत कर देता है जिससे वह बगुला गलने लगता है और अपेक्षित व्यक्ति का तिलस्म में घुसना सम्भव हो जाता है। इसी तरह किताब हाथ में लिए पत्थर का आदमी, तहख़ाने में स्थित कुएँ में रहने

वाला बुड्ढा, उसके पास पाये गये फूल—सबके सब चमत्कारी और मायावी लगने पर भी वस्तुतः मानवीय बुद्धि से निःसृत और नियन्त्रित हैं। उन फूलों को दवाओं के जरिये तैयार किया गया है, जिन्हें पानी में रगड़कर पीने से आदमी को कई दिन तक भूख नहीं लगती, सात दिन तक आदमी को बिना नुक़सान पहुँचाये बेहोश रखा जा सकता है या फिर दूसरे की बेहोश करने की कोशिश से बचा जा सकता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी इस प्रकार की औषधियों, अंजनों तथा अन्य विधियों के उल्लेख उपलब्ध हैं। धमाके से फूटकर धुआँ और गैस पैदा करनेवाला गोला तो वस्तुतः आजकल की अश्रुगैस जैसी कोई चीज़ लगता है। बेहोशी दूर करने के लिए काम में लानेवाले जंगली फूल या फिर औषधियों की सहायता से तैयार किया हुआ लखलखा जिसे सुँघा देने से गहरी बेहोशी में पड़ा आदमी भी तत्काल होश में आने लगता है आदि सारी चीज़ें सहज ही बुद्धिग्राह्य बनकर पेश की गयी हैं। इसी तरह की एक चीज़ बेहोशी की बुकनी है, जो ऐयारों के ख़ास काम की चीज़ है और जिसकी सहायता के बिना वे अपना काम कर ही नहीं सकते।

वस्तु-संगठन की दृष्टि से 'चन्द्रकान्ता' एक अद्भुत उपन्यास है। उत्सुकता और कौतूहल इस उपन्यास के केन्द्रीय सूत्र हैं। उत्सुकता की धार को पैना करने के लिये लेखक अपने कथा के सूत्र को चरम सीमा तक ले जाकर अधूरा ही छोड़ कर कोई दूसरा सूत्र उठा लेता है। कितने ही पृष्ठों के बाद, कभी-कभी तो पूरा एक भाग खत्म हो जाने पर लेखक उस छूटे हुए सूत्र को दुबारा पकड़कर आगे बढ़ता है। इस सन्दर्भ में उसकी स्मरण शक्ति किसी को भी सहज ही अभिभूत कर सकती है। सम्बन्धित घटना को, उस छूटे हुए सूत्र के सहारे, पुनर्जीवित करते समय उसके वर्णन में न तो कोई चीज़ छूटती है और न ही कभी ऐसा होता है कि अपने पूर्व वर्णन से भिन्न या विपरीत वह कुछ और कहता या लिखता हो। घटनाओं, स्थानों और व्यक्तियों के वर्णन का कौशल देवकीनन्दन खत्री को उनके किसी भी दूसरे समकालीन उपन्यासकार के मुक़ाबले एक अधिक सफल कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित करता है।...

'चन्द्रकान्ता' के सन्दर्भ में यह सवाल भी महत्त्वपूर्ण है कि अपने युग के यथार्थ और वास्तविक जीवन के प्रति बड़ी सीमा तक उदासीन रहकर भी वह अपने पात्रों के प्रति गहरे परिचय और आत्मीयता का अहसास पैदा कर पाने में क्यों कर सफल हो पाता है? बेशक 'चन्द्रकान्ता' एक तिलस्मी और ऐयारी का उपन्यास है, लेकिन इस बात के प्रमाण प्रचुरता से मिलते हैं कि उसमें देवकीनन्दन खत्री ने अपने अद्भुत और रोमांचक जीवन के रंगारंग अनुभवों और सुविस्तृत परिचय-क्षेत्र का बड़ा सृजनात्मक उपयोग कर सकने की सम्भावनाओं का परिचय दिया है। उनके कितने ही वास्तविक मित्र पं. बद्रीनाथ, पं. पन्नालाल और बाबू चुन्नीलाल आदि इस

उपन्यास में ऐयारों के रूप में उपस्थित हैं। इस तथ्य की ओर पहले भी संकेत किया जा चुका है कि उनकी मित्र-मण्डली में क़िस्म-क़िस्म के लोग थे जिनमें कवियों और साहित्यकारों से लेकर साधु-फ़क़ीर, ओझा, तान्त्रिक और औलिया तक शामिल थे। रियासतों और रजवाड़ों का उन्हें व्यक्तिगत रूप से गहरा परिचय था और उस क्षेत्र के कितने ही लोग उनके निजी सम्पर्क में थे। रानियों, राजकुमारियों और वेश्याओं को लेकर भी वस्तुतः यही स्थिति है। वास्तविकता से परिचित कुछ लोगों ने तो तथ्य की ओर संकेत भी किया है कि नौगढ़ के राजा सुरेन्द्रसिंह और उसके पुत्र वीरेन्द्रसिंह की आकृति-प्रकृति के चित्रण के लिए उन्होंने तत्कालीन काशी नरेश ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह और उनके पुत्र प्रभुनारायण सिंह का उपयोग मॉडल के रूप में किया है। इसी तरह उपन्यास में वर्णित मीलों तक फैले हुए घने जंगल, जहाँ रात की तो बात ही अलग है दिन में भी अँधेरा छाया रहता है, शीशम, शाल, साखू, तेन्दू, विजयसार, सनई और कोरिया आदि के घने छतनार पेड़, जिनकी शाखाएँ आपस में मिलकर पूरी सड़क और पगडण्डियों को घेरे हुए हैं, नदियाँ तालाब, बावड़ियाँ, खोहें और टीले, खँडहर और बियावान—ये सारी चीज़ें महज़ कल्पना की उपज नहीं हैं। इन सबके वर्णन में एक ऐसी अनोखी चित्रात्मक शैली के दर्शन होते हैं जो तत्कालीन हिन्दी उपन्यासों के सन्दर्भ में विशेष रूप से महत्त्व रखती है। इतने प्रभावशाली ढंग से इन सबका वर्णन किये जाने का रहस्य यह है कि अपने उपन्यास के लिए नियत और निर्धारित भौगोलिक क्षेत्र का राई-रत्ती लेखक का देखा है और जाना हुआ था। अपने विशाल अनुभव भण्डार के सृजनात्मक उपयोग की दृष्टि से 'चन्द्रकान्ता' आज भी एक सार्थक और महत्त्वपूर्ण कृति प्रतीत होती है।

चन्द्रकान्ता सन्तति

'चन्द्रकान्ता सन्तति' देवकीनन्दन खत्री का दूसरा उपन्यास है जिसकी कथा चौबीस भागों में चलती है, प्रायः दो हज़ार पृष्ठों में। इसका प्रथम प्रकाशन खत्री जी के अपने ही मासिक पत्र 'उपन्यास लहरी' के माध्यम से हुआ। सन् 1894 से सन् 1905 तक यह धारावाहिक रूप से प्रकाशित होता रहा था। जैसाकि उपन्यास के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है इसमें राजा वीरेन्द्रसिंह और रानी चन्द्रकान्ता के पुत्रों—कुँवर इन्द्रजीतसिंह और आनन्दसिंह की कहानी कही गयी है। चूँकि यह कहानी 'चन्द्रकान्ता' का ही विस्तार है, अतः चन्द्रकान्ता में आये बहुत-से पात्र अपने मूल रूप में उपस्थित हैं, लेकिन उनके अलावा और बहुत-से नये पात्रों की एक अच्छी-खासी भीड़ भी यहाँ मौजूद है। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का ऐतिहासिक आधार जितना ही कमज़ोर है, उसका भौगोलिक आधार उतना ही पुष्ट है। 'चन्द्रकान्ता' की अपेक्षा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का भौगोलिक विस्तार सहज ही अपनी ओर ध्यान

खींचता है। चुनार की विजय के बाद उस पर राजा वीरेन्द्रसिंह का अधिकार हो चुका है और क्षमायाचना एवं प्रायश्चित्त के भाव से वहाँ का राजा शिवदत्त संन्यास लेने की इच्छा से जंगलों में चला जाता है। 'चन्द्रकान्ता' की समाप्ति जिस बिन्दु पर होती है, 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की कहानी उससे प्रायः अठारह वर्ष बाद शुरू होती है, यानी इस बीच नयी पीढ़ी के युवाओं के सक्रिय हो जाने की सूचना एवं संकेत मात्र से लेखक का काम चल जाता है। नौगढ़, विजयगढ़ और चुनार के अलावा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में गया और राजगृह—जिसे लेखक ने 'राजगृही' लिखा है—रोहतासगढ़, जमानियाँ और विन्ध्य के पहाड़ी क्षेत्र को भी कथा का केन्द्र बनाया गया है। जंगल में चला गया शिवदत्त अन्दर-ही-अन्दर, बदले की भावना से, एक नये राज्य और सेना का संगठन करता रहता है और जंगलों को काटकर बनाये गये इस राज्य को वह शिवदत्तगढ़ की संज्ञा देता है। इन रियासतों के अलावा काशी और मिर्जापुर को भी कथा-सूत्र के नियोजन के लिए इस्तेमाल किया गया है। गया और राजगृह का सम्बन्ध वहाँ के विलासी राजा चन्द्रदत्त की पुत्री माधवी से है, जिसने विलासिता और दूसरे चारित्रिक अवगुण अपने पिता से उत्तराधिकार में पाये हैं और उन्हीं का विकास करके वह एक स्वतन्त्र एवं निरंकुश रानी के रूप में रहती है—बहुत कुछ अपने दीवान अग्निदत्त की उप-पत्नी के रूप में। रोहतासगढ़ का राजा दिग्विजयसिंह इस उपन्यास में अंकित बुरी और विरोधी शक्तियों से जुड़कर कथा के जटिल विकास में अपेक्षित सहायता पहुँचाता है। जमानिया का वास्तविक राजा गोपालसिंह है, जिसे एक षड्यन्त्र के तहत जमानिया के तिलस्म में क़ैद कर लिया गया है। दारोगा और अन्य कुछ लोगों की सहायता से गोपालसिंह के पिता की हत्या कर दी जाती है और उसके विवाह के अवसर पर उसकी वास्तविक पत्नी के बदले मुन्दर नामक एक अन्य युवती को रानी बनाकर गोपालसिंह को धोखा दिया जाता है। बाद में यही मुन्दर दरोगा की सहायता से, मायारानी के नाम से जमानिया की रानी बनती है। गोपालसिंह को क़ैद करके उनसे तिलस्म के लिये उन्हें मृत घोषित एवं प्रचारित कर दिया जाता है। मायारानी चूँकि गोपालसिंह की वास्तविक पत्नी लक्ष्मी देवी के रूप में ही रहती है इसलिए लक्ष्मी देवी की दोनों बहिनें कमलिनी और लाड़ली भी उसके साथ रहती हैं। षड्यन्त्र के बारे में कुछ सन्देह हो जाने पर पहले कमलिनी और फिर लाड़ली भी उससे अलग हो जाती है। विन्ध्य की पहाड़ियों पर लेखक इन्द्रदेव का अपना तिलस्मी संसार बसा हुआ है जिसकी पत्नी सर्यू और पुत्री इन्दिरा भी बहुत पहले मायारानी के षड्यन्त्र की शिकार होकर मृत मान ली गयी हैं और संसार से काफ़ी कुछ उदासीन-सा इन्द्रदेव अपने कुछ शिष्यों के साथ अपने दिन काट रहा है।

'चन्द्रकान्ता सन्तति' का प्रारम्भ कुँवर इन्द्रजीतसिंह और आनन्दसिंह के शिकार पर निकलने से होता है, जहाँ राजा शिवदत्त के ऐयारों के चक्कर में पड़-

कर वे गिरफ़्तार हो जाते हैं। शिवदत्त की पुत्री किशोरी से इन्द्रजीतसिंह का प्रेम और बाद में माधवी के दीवान अग्निदत्त की पुत्री कामिनी से आनन्दसिंह का प्रेम एक तरह से उपन्यास के केन्द्र में है, लेकिन पारस्परिक आकर्षण एवं सामान्य दर्शन के बावजूद प्रेमी और प्रेमिका का मिलन कथा के जटिल एवं अन्तःगुम्फित सूत्रों के कारण सम्भव नहीं हो पाता है। जब यह आशा पूरी तरह से दिखायी देने लगती है कि विरह एवं वियोग के ये सुदीर्घ क्षण अब समाप्त ही होने को हैं तभी कुछ-न-कुछ ऐसा घटित हो जाता है कि वह अपेक्षित मिलन के लिए टाल दिया जाता है। वस्तुत यह मिलन तभी हो पाता है जब गोपालसिंह की सहायता से, जो रिश्ते में इनके कैसे ही भाई निकलते हैं, दोनों कुमार तिलस्म को तोड़कर बाहर निकलने की स्थिति में आ चुके होते हैं। इसी बीच कमलिनी की सहायता और सम्पर्क के कारण इन्द्रजीतसिंह उसकी ओर भी आकृष्ट दिखायी देते हैं। आगे चलकर यही स्थिति आनन्दसिंह की लाड़ली को लेकर है। 'चन्द्रकान्ता' की तरह यहाँ लेखक दोनों प्रेमिकाओं के एक ही बने रहने की जरूरत नहीं समझता। पर्याप्त रहस्यमय ढंग से तिलस्म में ही बदले हुए रूप में इन्द्रजीतसिंह और कमलिनी की तथा आनन्दसिंह और लाड़ली की शादी हो जाती है। इस तिलस्म के टूटने के बाद बाहर आने पर इन्द्रजीतसिंह और किशोरी एवं आनन्दसिंह और कामिनी की शादी भी हो जाती है। 'चन्द्रकान्ता' की तरह यहाँ भी इन दोनों प्रमुख शादियों के साथ चपला के पुत्र ऐयार भैरोसिंह की शादी किशोरी की ऐयारी कमला से और चम्पा के पुत्र ऐयार तारासिंह का विवाह तिलस्म से मुक्त इन्द्रदेव की पुत्री इन्दिरा के साथ हो जाता है।

यह प्रश्न काफ़ी कुछ स्वाभाविक-सा है कि 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का रचना संसार जिन लोगों से निर्मित है, उनके आचार-विचार क्या हैं और किस प्रकार के जीवन-मूल्यों में उनकी आस्था है? अपने मूल के रूप में यह संसार एक आदर्श पारिवारिक व्यवस्था की ओर संकेत करता है, जिसमें छोटे बड़ों को आदर देते हैं और बड़ों के आशीर्वाद एवं शुभकामनाओं को अपनी सबसे बड़ी पूंजी समझते हैं। उनका शिष्ट आचरण और आपसी व्यवहार सहज ही प्रभावित करता है। आपस में हँसी-मज़ाक में भी ये शालीनतावश बड़ों की उपस्थिति को महत्त्व देते हैं और उनके सामने भरसक कोई ऐसी बात नहीं करते, जो पारिवारिक शिष्टाचार के विरुद्ध पड़ती हो। जमानिया के तिलस्म में इन्द्रजीतसिंह और आनन्दसिंह की भेंट अरसे बाद कमलिनी से होती है। किशोरी और कामिनी भी साथ हैं। लक्ष्मी देवी से, उसके गोपालसिंह की पत्नी निकलने के कारण, उनका बाक़ायदा भावज का रिश्ता बन चुका है। अरसे के विद्रोह के बाद ये सब लोग भेंट के इस सुयोग पर, कुछ अतिरिक्त रूप से ही उत्साहित दिखायी देते हैं। लेकि सर्यू की उपस्थिति के कारण पूरी तरह खुलकर स्थिति का आनन्द लेने में संकोच का अनुभव करते हैं। सो, उसे लक्ष्मी देवी

और कमलिनी खाने की तैयारी के बहाने से उठा देती हैं और तब आपसी हँसी-मज़ाक का क्रम अपने सहज रूप में चलने लगता है। इसी तरह पिता और पुत्र के सम्बन्ध, ऐयारों की अपने राजा के प्रति भक्ति, समर्पण और निष्ठा आदि के भाव उस आदर्श व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं जो लम्बे समय से भारतीय समाज की मूल परिकल्पना से जुड़े रहे हैं। इस स्थिति में धन के लोभ के कारण अपने स्वामी को धोखा देने के सम्बन्ध में भूतनाथ की भूमिका पर्याप्त भिन्न ही नहीं, विवादास्पद भी ठहरती है। हुए को अनहुआ करने की सारी ईमानदार कोशिशें भी उसके चरित्र को शंकाओं और सन्देहों से ऊपर नहीं उठने देती हैं। बहुत कुछ इसी आधार पर कुछ लोगों को उसके चरित्र में एक मध्यवर्गीय युवक के उदय और विकास की सम्भावनाएँ भी दिखायी दी हैं। अपने आचार-विचार में 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के प्राय: सभी अच्छे पात्र सनातन हिन्दू आदर्शों से नियन्त्रित हैं। वे पूजा, ध्यान और सन्ध्या करनेवाले लोग हैं, जो जीवन के हर क्षेत्र में सनातन हिन्दू नियमों एवं आचार-पद्धति को महत्व देते और स्वीकार करते हैं। जो लोग उपन्यास में बुरी शक्तियों के रूप में अंकित हैं, उनके बुरे होने का एक आधारभूत कारण यह भी है कि ये इन सनातन हिन्दू आदर्शों की उपेक्षा करते हैं या फिर उनके प्रति पूरी तरह से उदासीन रहते हैं।

सनातन हिन्दू आदर्शों के प्रति यह आग्रह पात्रों के क्रिया-कलापों के द्वारा ही प्रकट नहीं होता, बल्कि कभी तो अनावश्यक लेखकीय हस्तक्षेप के रूप में भी इसे देखा जा सकता है। बिना विवाह के दो दीवान अग्निदत्त के साथ माधवी की उपपत्नी जैसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए लेखक लिखता है—"माधवी को इस बात का बिल्कुल ख़्याल न था कि शादी होने पर ही किसी से हँसना-बोलना मुनासिब है। वह जी का आ जाना ही शादी समझती थी चाहे वह अभी तक कुँवारी ही क्यों न हो, मगर मेरा जी नहीं चाहता कि उसे कुँवारी लिखूँ क्योंकि उसका चाल-चलन ठीक न था। यह सभी कोई जानते हैं कि ख़राब चाल-चलन रखने का नतीजा बहुत बुरा होता है, मगर माधवी के दिल में इसका गुमान भी न था···" (भाग 1, पृ० 64)। यही नहीं, बच्चे की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा एवं उसके विकास में माता-पिता की उदासीनता से कैसे घातक परिणाम निकल सकते हैं, लेखक इस पर भी, माधवी के ही प्रसंग में, टिप्पणी किये बिना नहीं रहता है—"बच्चों की तालीम पर यदि उनके माँ-बाप ध्यान न दे सकें तो मुनासिब है कि उन्हें ज़्यादा उम्रवाली और नेकचलन दाई की गोद में दें मगर माधवी के माँ-बाप को इसका कुछ ख़्याल न था और आखिर इसका नतीजा बहुत ही बुरा निकला···।" (वही, पृ० 71)।

इस सनातन हिन्दू आस्था के कारण ही उपन्यास के पात्रों में यह विश्वास बहुत गहराई तक बैठा हुआ दिखायी देता है कि जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा। बुरे कर्म के अच्छे फल की कल्पना भी लेखक को भयावह लगती है। अधिकांशत:

पौराणिक आख्यानों पर पले-पुसे तत्कालीन पाठक वर्ग की संस्कारगत मनोरचना के सन्दर्भ में यह स्थिति बहुत आश्चर्यजनक भी नहीं लगनी चाहिए। जब किशोरी माधवी के दीवान अग्निदत्त के हाथ पड़ जाती है, तो तिलोत्तमा उसे सब कुछ छोड़कर जल्दी ही निकल जाने की सलाह देती है, ताकि वे लोग अग्निदत्त के कहर से बच सकें। माधवी अपनी सखियों और साथियों के प्रति जब चिन्ता व्यक्त करती है, तो तिलोत्तमा कहती है—"बुरों की संगत करने से जो फल सब भोगते हैं सो यह भी भोगेंगी। मैं इसका कहाँ तक ख्याल करूँगी? जब अपने पर आ बनती है तो कोई किसी की खबर नहीं लेता'''।" (भाग 2, पृ०40)

यही नहीं, घोर हताशा की स्थिति में षड्यन्त्रप्रिय पात्रों को भी यह बोध बना रहता है कि वे जो कुछ कर रहे हैं अन्ततः उसका परिणाम बुरा ही निकलेगा और उस अनिवार्य परिणाम से कोई उन्हें बचा नहीं सकता। ऐसी ही स्थिति में फँसकर मायारानी यह उदगार व्यक्त करती है—"हाय, इसमें कोई सन्देह नहीं कि बुरे कर्मों का बुरा फल अवश्य मिलता है। हाय, मुझ-सी औरत जिसे ईश्वर ने सब प्रकार का सुख दे रहा था आज बुरे कर्मों की बदौलत ही इस अवस्था को पहुँची। हाय, मैंने क्या सोचा था और क्या हुआ? क्या बुरे कर्म करके भी कोई सुख भोग सकता है! नहीं, नहीं, कभी नहीं, दृष्टान्त के लिए मैं मौजूद हूँ!" (भाग 8, पृ० 27)

स्त्री की दैहिक पवित्रता का बोध भी इस सनातन हिन्दू आदर्श का एक अंग तिलस्मी सुरंगों, जंगलों और खण्डहरों में शत्रुपक्ष की स्त्रियाँ भी असहायावस्था में मिलने या क़ैद हो जाने पर कम-से-कम इस क्षेत्र से अपने को नितान्त सुरक्षित अनुभव करती हैं। समूचे उपन्यास को लेकर परम्परागत संस्कारोंवाले लोगों की धारणा में एक गुणात्मक अन्तर पैदा करने की सचेत कोशिश ऐसे किसी नैतिक आग्रह के मूल में हो सकती है। गौहर, माधवी, मायारानी और नौरत्न आदि बुरे कर्मों में लिप्त स्त्रियाँ ही दैहिक पवित्रता के इस आदर्श के विरोध में अबाध्य विलासिता का उच्छृंखल जीवन जीती हैं और उनके इन कर्मों के अनुरूप ही उनका अन्त भी होता है—दुःखद, यातनामय और बहुत कुछ अपने में एक उदाहरण जैसा। माधवी और अग्निदत्त के सम्बन्धों की ओर संकेत पहले ही किया जा चुका है। गौहर और राजा दिग्विजयसिंह के शारीरिक सम्पर्क का वर्णन लेखक गहरी संचित घृणा के साथ करता है—"गौहर तीन दिन से ज़्यादा अपने को न बचा सकी। इस बीच में उसने अपना मुँह काला करके दिग्विजयसिंह को क़ाबू में कर लिया और दिग्विजयसिंह से इस बात की प्रतिज्ञा करा ली कि वीरेन्द्रसिंह वग़ैरह जितने आदमी यहाँ क़ैद हैं, सभी का सिर काटकर क़िले के कंगूरों पर लटका दिया जायेगा। (भाग 5, पृ० 52)

इसके विपरीत जो अच्छे पात्र हैं, अपने सदविवेक और सद्वृत्तियों से परि-

चालित, वे स्त्री की दैहिक पवित्रता के सनातन हिन्दू आदर्शों की रक्षा करते हैं। कभी कुछ ऐसा नहीं करते जो उस परम्परागत आदर्श की गरिमा को खण्डित करे या उसके प्रत्याख्यान का कारण बने। जब कमलिनी इन्द्रजीतसिंह को बनाने के ख्याल से उन पर यह प्रकट नहीं करती है कि वस्तुतः जमानिया के तिलस्म में उसी से उनकी शादी हुई थी, तो वह किसी अन्य की पत्नी समझकर उसे एक आदर्श हिन्दू स्त्री के आदर्शपालन की सलाह देते हैं, क्योंकि इसी में उसका और उनका धर्म सुरक्षित रह सकता है। इस सनातन हिन्दू आस्था अपने गहरे विश्वास के कारण ही उपन्यास के प्रायः सारे पात्र एक नियतिवादी दृष्टिकोण के शिकार भी दिखायी देते हैं क्योंकि वे यह मानकर चलते हैं कि बुराई का बदला अनिवार्य रूप से बुरा होना ही है और मनुष्य के बदले कोई मानवेतर शक्ति इस काम को कदाचित् अधिक अच्छी तरह सम्पन्न कर सकती है। वर्षों से तिलस्म में क़ैद और मरे हुए समझे जानेवाले कितने लोग समय आने पर, सर्वशक्तिमान परमात्मा की कृपा से जीते-जागते निकल आते हैं और नये सिरे से जीवन की धारा से जुड़ जाते हैं जबकि उनके साथ वैसा सलूक करनेवाले लोग अपने दुष्कर्मों के परिणामों से बच नहीं पाते हैं। अच्छे-भले लोगों की इस अकारण सुदीर्घ विपत्ति का कारण भी वस्तुतः नियति का विधान ही है, जिसके कारण बुरों के सम्पर्क और संगति का फल उन्हें भोगना पड़ता है। इन्द्रदेव इसे ग्रह दशा का परिणाम समझकर सन्तोष कर लेने की कोशिश करते हैं, लेकिन वह यह भी मानते हैं कि 'परमात्मा की दी हुई बुद्धि और विचारशक्ति का अनादर करनेवाले ही प्रायः संकट में पड़कर तरह-तरह के दुःख भोगते हैं।" (भाग 22, पृ० 2)। अपने सारे सदाचार और सच्चरित्रता के बावजूद राजा गोपालसिंह इतना दुःख क्यों भोगते हैं? और लक्ष्मी देवी? वह तो और भी निर्दोष हैं।···इसका उत्तर देते हुए इन्द्रदेव कहता है—"इसके जवाब में मैं तो यही कहूँगा कि राजा गोपालसिंह की बदौलत जो बेईमान के हाथ की कठपुलती ही रहे थे और इस बात की कुछ भी खबर नहीं रखते थे कि उनके घर में क्या हो रहा है या उनके कर्मचारियों ने उन्हें कैसे जाल में फँसा रखा है। जिस राजा को अपने घर की खबर न होगी वह प्रजा का क्या उपकार कर सकता है, और ऐसा राजा अगर संकट में पड़ जाये तो आश्चर्य ही क्या!" (भाग 22, पृ० 2)

'भले' और 'बुरे' की इन नैतिक-अनैतिक अवधारणाओं पर लेखक स्पष्ट रूप में, कभी-कभी तो एक अप्रिय बेज़रूरत हस्तक्षेप की सीमा तक टिप्पणी करता चलता है जैसे वह अपने सद्यःनिर्मित विशाल पाठकवर्ग को संस्कारित करने की एक अतिरिक्त जिम्मेदारी भी उठा रहा हो। बुरे पात्रों के लिए वह स्वयं ही घृणा-सूचक शब्दों का इस्तेमाल करता चलता है, जैसे मायारानी के लिए 'कमबख्त', दरोगा के लिए 'बुड्ढा नकटा दरोगा' और भगवनिया के लिए 'हरामजादी' आदि।

'चन्द्रकान्ता सन्तति' घोषित रूप से एक तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यास है, जिसमें

तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों के अंकन की कोई विशेष गुंजाइश नहीं हो सकती थी। इसे आज तक लेखक के विरुद्ध एक आरोप के तौर पर इस्तेमाल किया जाता रहा है। लेकिन घोषित और परोक्ष रूप से ऐसे किसी रचनात्मक प्रयोजन के प्रति उदासीन रहकर भी क्या किसी लेखक के लिए अपने युगीन प्रभावों और स्थितियों से पूरी तरह बचकर रह पाना सम्भव हो सकता है? मैं नहीं समझता कि विवेकपूर्ण समझा जानेवाला इसका कोई भी उत्तर सकारात्मक हो सकता है। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों पर युगीन प्रभावों के विश्लेषण की अधूरी होने पर भी पहली महत्त्वपूर्ण कोशिश हिन्दी के सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक चन्द्रवली सिंह ने की है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "चन्द्रकान्ता सन्तति को भारतेन्दु युग की हलचलों से पृथक् कर देखना, उसे उसके परिवेश से, प्रेरणा के स्रोत से अलग काटकर देखने के समान है।..."

'चन्द्रकान्ता' की चर्चा करते समय इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि अपने मुस्लिम पात्रों को लेकर लेखक की दृष्टि स्वस्थ नहीं समझी जा सकती। ऐसा करने के लिए उसे प्रभावित करनेवाले विचार स्रोतों का उल्लेख भी यथा-सम्भव किया जा चुका है। राजनीतिक मंच पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की गतिविधियों के परिणामस्वरूप, जिसका रूप अब धीरे-धीरे बदल रहा था और वह चन्द सामाजिक-राजनीतिक सुधारों से आगे जा चुकी थी, हिन्दू और मुसलमानों में सद्भाव बढ़ रहा था और उनमें से कुछ लोग यह अवश्य समझने लगे थे कि इन दोनों की सम्मिलित लड़ाई का मुख्य मुद्दा और शत्रु एक ही है। आर्य समाज की साम्प्रदायिक कट्टरता के विरोध में भी कुछ उदारचेता क़िस्म के लोग आवाज उठाने लगे थे। इन सारी स्थितियों का स्पष्ट प्रभाव 'चन्द्रकान्ता सन्तति' पर देखा जा सकता है। इस उपन्यास में अपने मुसलमान पात्रों को लेकर लेखक का दृष्टिकोण लगभग वैसा ही है जैसा कि आज किसी भी समझदार प्रगतिशील व्यक्ति का हो सकता है। कल्यानसिंह के बहकाने के बावजूद शेर खाँ वीरेन्द्रसिंह के साथ विश्वासघात करने को तैयार नहीं होता है। न सिर्फ़ यह है कि इस अवसर पर गहरी दृढ़ता एवं निष्ठा का परिचय देता है बल्कि इस बात पर प्रसन्नता और सन्तोष भी व्यक्त करता है कि एक अधर्मी के ख़िलाफ़ वह एक धर्मी का साथ दे पा रहा है। उसके इस गुण पर रीझकर ही भूतनाथ उसे 'नेक, ईमानदार और इन्साफ़ पसन्द' कहकर उसका अभिनन्दन करता है और 'सच्चा बहादुर' पाकर अकेले ही उसकी मदद को तैयार हो जाता है। गौहर, अलबत्ता एक विलासिनी और उच्छृंखल युवती के रूप में यहाँ चित्रित की गयी है। लेकिन उसके पीछे लेखक का कैसा भी पूर्वाग्रह नहीं है—वह मायारानी और माधवी की बिरादरी की स्त्री है और उसका हिन्दू या मुसलमान होना एकदम बेमानी हो जाता है।

'चन्द्रकान्ता सन्तति' का रचना काल—उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त और

बीसवीं का आरम्भ—भारतीय समाज के लिए एक गहरे संक्रमण का काल रहा है। एक ओर यूरोपीय सम्पर्क और प्रभाव के सबब से विज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में एक नयी चेतना का प्रसार हो रहा था, वहीं दूसरी ओर हमारा समाज, विशेष रूप से उत्तरी भारत का पूर्वी क्षेत्र जो 'चन्द्रकान्ता' और चन्द्रकान्ता सन्तति' के केन्द्र में है, बुरी तरह से अशिक्षा और सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों का शिकार था। जातीय और राष्ट्रीय प्रगति के इन अवरोधक तत्त्वों के संकेत 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में प्रचुरता से उपलब्ध हैं। राजा गोपालसिंह का विवाह लक्ष्मीदेवी से न होकर धोखे में मुन्दर के साथ कर दिया है, इस स्थिति पर आगे चलकर टिप्पणी करते हुए वह स्वीकार करते हैं—"मेरे साथ तो रस्म और रिवाज़ ने दग़ा की ! व्याह के पहले मैंने उसे देखा ही न था, फिर पहचानता क्योंकर ?" (भाग 10, पृ० 21) यही नहीं, गोपालसिंह के कष्ट भोगने का एक कारण इन्द्रदेव (लेखक ?) यह भी मानता है कि उसने बड़ों की सीख पर अमल न करके अपने गुप्त भेद स्त्री अर्थात मायारानी को बता दिये।

इन सब बातों से इस तथ्य पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है कि तत्कालीन भारतीय समाज में स्त्री को लेकर हमारे सोच की वास्तविक दिशा क्या और कैसी थी। ब्रह्म-समाज के प्रयासों के फलस्वरूप बंगाल में स्त्री शिक्षा और सुधार को लेकर जो एक नयी चेतना विकसित हुई थी, जिसका कलात्मक प्रतिफलन आशापूर्णा देवी के प्रसिद्ध उपन्यास 'प्रथम प्रतिश्रुति' में उपलब्ध है, वैसी किसी चेतना का उत्तर भारत में पूर्णतया अभाव था। सामाजिक रूढ़ियों एवं धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण ही समाज में विधवा विवाह को बहुत बुरा समझा जाता था। लक्ष्मीदेवी के बदले मायारानी का विवाह गोपालसिंह से इसी आधार पर न हो पाने की दलील दी जाती है, क्योंकि मुन्दर विधवा है। उन्हें भय है कि राज्य की जनता अपने रूढ़िबद्ध संस्कारों के कारण इस विवाह को उचित ठहराकर मान्यता नहीं देगी। इसी कारण मुन्दर लक्ष्मीदेवी के रूप में ही राजा गोपालसिंह की पत्नी बनायी जाती है और जब तक उसका वास्तविक भेद प्रकट नहीं हो जाता है, इस धोखे की आड़ में ही वह अपना व्यापार चलाती रहती है।

भारतीय समाज में, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के क्षेत्र में, दोहरे प्रतिमानों की उपस्थिति सामन्ती व्यवस्था की देन है। सारे विधि-विधान, निषेध और वर्जनाएँ केवल स्त्रियों के लिए है जबकि पुरुष अबाधित भोग और उच्छृंखलता के लिए स्वतन्त्र समझे जाते रहे हैं। इन्द्रजीतसिंह से विवाह के बाद जब कमलिनी उनसे छेड़खानी की गरज से अपना वास्तविक भेद गुप्त रखती है, और इन्द्रजीत अपना धर्म बिगड़ जाने की सोचकर चिन्ता एवं दुःख प्रकट करते हैं, तो कमलिनी उत्तर देती है—"आपका धर्म नष्ट हुआ, खैर कोई चिन्ता नहीं क्योंकि धर्मशास्त्र में मर्दों के लिए कोई पाबन्दी नहीं लगायी गयी है, मगर औरतों को तो किसी लायक़ नहीं छोड़ा

है। आपके लिए तो प्रायश्चित है मगर मेरे लिए तो कोई प्रायश्चित भी नहीं जिसे कर मैं सुधर जाऊँगी···" (भाग 22, पृ. 91, 92)। लगभग इसी तरह की बात लाड़ली आनन्दसिंह से कहती है—"मर्दों के धर्म का क्या कहना है और उसका बिगड़ना ही क्या जो दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह ब्याह से भी ज़्यादा कर सकते हैं। बर्बादी तो औरतों के लिए है।" (भाग 23, पृ. 6) दोनों कुमार इस सम्भावना मात्र को बर्दाश्त कर सकने को तैयार नहीं हैं कि जिस तरह कमलिनी और लाड़ली उन लोगों के साथ हैं उसी तरह किशोरी और कामिनी किसी और के संग भी हो सकती हैं। वस्तुतः यह उस सामन्ती सोच और आचरण पर एक तीखा कटाक्ष है, जहाँ पुरुष अपनी पत्नी की दैहिक पवित्रता को लेकर इस कदर चिन्तित एवं सचेत होते हुए भी स्वयं अपने मामले में कोई सीमा मानकर चलने को तैयार ही नहीं है। कमलिनी, लाड़ली, और किशोरी और कामिनी—ये सारी स्त्रियाँ अमीरी के गर्व में ऐंठी रहनेवाली स्त्रियाँ नहीं हैं। सामन्ती पृष्ठभूमि से आयी होने पर भी अपने युगीन चेतना बोध में अप्रभावित नहीं हैं। हाथ-पैर हिलाने और घरेलू कामकाज में वे किसी प्रकार की हतक नहीं समझतीं और रसोई की व्यवस्था एवं काम में गहरी दिलचस्पी लेती हैं।···

विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक और सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप उन लोगों के बारे में भी एक परिवर्तित दृष्टि के संकेत मिलने लगे थे, जिन्हें आम-तौर पर छोटे लोग समझकर शताब्दियों से घृणा की जाती रही थी। भरतसिंह अपने क़िस्से में अपने नौकर से कहता है—"इसमें कोई शक़ नहीं है कि मेरा वह नौकर बहुत होशियार और बुद्धिमान था; बल्कि इस लायक़ था कि राज्य का कोई भी भारी काम उसके सुपुर्द किया जाता, परन्तु वह जाति का कहार था। इसलिए किसी बड़े मर्तबे पर पहुँच न सका···" (भाग 23, पृ. 39)।

इन आन्दोलन के फलस्वरूप ही एक ऐसी चेतना का विकास भी होने लगा था, जो धार्मिक आडम्बरों के छद्म को समझने लगी थी। ढोंगी क़िस्म के साधु-महात्माओं को लेकर लेखक की दृष्टि एकदम साफ़ है और धर्म के नाम पर ये जो कुछ करते हैं, लेखक ने उस सबको पर्याप्त तल्खी के साथ उद्घाटित करने की कोशिश की है। मायारानी का तिलस्मी दारोग़ा अपने को साधु और ब्रह्मचारी के रूप में प्रस्तुत करता है। अपनी इस छद्म मुद्रा के कारण काफ़ी समय तक वह लोगों को धोखे में डाल रखने में सफल होता है। लेकिन फिर बाद में जब वास्त-विकता सामने आती है तो पता चलता है कि वह नितान्त भ्रष्ट, ऐयाश और लालची किस्म का आदमी है। इसी दारोग़ा द्वारा भरतसिंह को राजा गोपालसिंह की बीमारी की झूठी ख़बर देकर जब मोहन वैद्य को बुलाने के बहाने षड्यन्त्र का शिकार बनाया जाता है तो निर्दोष भरतसिंह को कुछ भी पता नहीं होता और जब वह मोहन वैद्य के यहाँ पहुँचता है तो वह माला फेर रहा होता है। यह अनुमान

लगाया जा सकता है कि इन सारे वर्णनों के पीछे काशी के पण्डों-पुजारियों के जीवन की कुछ वास्तविक घटनाएँ भी लेखक के लिए उदाहरण के तौर पर सामने रही हों। जो भी हो, यह चेतना लेखक की सामाजिक चिन्ता का ही एक हिस्सा थी और आगे चलकर इस परम्परा का एक सुसम्बद्ध विकास हिन्दी उपन्यास में दिखायी देता है।

'चन्द्रकान्ता सन्तति' की असाधारण लोकप्रियता का कारण उसका एक तिलस्मी उपन्यास होना है। अपने सरोकार और रचनागत आशय को लेकर लेखक कहीं भी दुविधा में नहीं है। उसने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि उस युग में तिलस्मी रचनाओं की माँग थी और अपने इन उपन्यासों को लिखते समय उसने लोक-रुचि का भरपूर ध्यान रखा है। जब-तब उसने इस वात पर दुःख भी प्रकट किया है कि तिलस्मी रचनाओं की लोकप्रियता के सबब कितने ही घटिया और कम प्रतिभाशाली लोग भी इस क्षेत्र में आ गये हैं जिनके कारण तिलस्मी उपन्यास का स्वरूप भ्रष्ट हो रहा है और उसकी विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता कम हुई है। जगह-जगह लेखक ने इस तथ्य पर बल दिया है कि यह तिलस्म कोरी कल्पना नहीं है, उसका अस्तित्व होता था और इसके समर्थन में उसने प्रचुर प्रमाण भी दिये हैं। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के समाधान खण्ड में उसने तत्कालीन विभिन्न पत्रों में प्रकाशित तिलस्म-सम्बन्धी कुछ लेखों और समाचारों की चर्चा की है। खलीफ़ा विन उम्मीयाँ के ज़माने में जब अब्दुल मलिक बिनमर्दा मिस्र का गवर्नर था तो ऐसे ही एक अद्भुत तिलस्म का पता चला था जिसका ब्योरा 30 मार्च, सन् 1905 के 'अवध अखबार' में प्रकाशित हुआ था। इसी तरह भारत में भी कई स्थानों पर इस प्रकार के तिलस्म के पाये जाने की चर्चा हुई थी। लेखक ने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि विज्ञानवेत्ता और साइंस जाननेवाले लोग जहाँ इन उपन्यासों में वर्णित अद्भुत चीज़ों का समर्थन करेंगे वहीं साधारण आदमी इसे गप और जादू समझेगा। मीलों तक फैली हुई घाटियाँ और सुरंगें, असाधारण रूप से गहरे कुएँ की सतह पर पानी के बदले मुलायम घास उगी हुई है जहाँ थोड़ा चलने के बाद इमारतें और आदमी दिखायी देने लगते हैं। रहस्यमय और अद्भुत लगनेवाली इमारतें और उनके दरवाज़े, उन्हें खोलने और बन्द करनेवाले यन्त्र—इन सारी चीज़ों के पीछे मानवीय बुद्धि का चमत्कार सहज ही देखा जा सकता है। कमलिनी जिस मकान में रहती है वह चारों ओर से एक विशाल तालाव से घिरा हुआ है। उस तालाव के अन्दर लोहे का जाल बिछा हुआ है जिसके कारण कोई भी आदमी तैरकर मकान तक नहीं पहुँच सकता। विशेष यन्त्रों की सहायता से उस जाल के अन्दर बने दरवाज़े को खोलकर किश्ती से ही घर तक आया जा सकता है। दरवाज़े को खोलनेवाली यह कल अलमारी में लगी है जो ऊपरी तौर पर देखने पर दीवार का ही एक हिस्सा मालूम देती है। कमलिनी की अनुपस्थिति में जब शत्रु उस तालाव को, पानी निकालने के यन्त्र का पता करके, सेना की सहायता से कई दिन लगाकर मिट्टी से

पाट देते हैं तो कुछ दिन बाद कमलिनी लौटकर यन्त्रों की सहायता ये इसी काम के लिए बने कुएँ से फिर पानी पहुँचाकर तालाब को पहले जैसी हालत में ही ले आती है। भैरोंसिंह की आतिशबाज़ी की अनारवाली मोमबत्ती, जिसकी सहायता से वह रोहतास गढ़ के तोपखाने में आग लगाने में सफल होता है इस मानवीय बुद्धि के अद्भुत चमत्कार का एक उदाहरण है। इन्द्रदेव द्वारा फेंकी गयी गेंदें, मनोरमा और राजा शिवदत्त के आदमियों पर, ज़मीन पर गिरते ही फट जाती हैं और उनसे आग के शोले निकलकर भयानक तबाही मचाना शुरू कर देते हैं। ये गेंदें आज के छापामार युद्ध में काम आनेवाले हथगोलों जैसी ही कोई चीज़ लगती है। चुनार के तिलस्म का दरवाज़ा वहीं स्थित तीन नाचनेवाले धातु के मोरों की गर्दनें मिला देने से खुल जाता है और बाद में स्वतः ही बन्द हो जाता है। सुरंग में जाने के लिए शेर की बायीं आँख में उँगली डालने से उसका मुँह खुल जाता है। मुँह का पेंच घुमाने से एक पत्थर जगह छोड़कर हट जाता है और रास्ता नज़र आने लगता है। सुरंग का दरवाज़ा अन्दर से बन्द करने के बाद गरारीदार पहिये को 21 बार बायीं ओर 12 बार दायीं ओर और फिर 9 बार बायीं ओर घुमाने से दरवाज़ा खुल जाता है तिलस्मी तमाशे के तौर पर चलती-फिरती जिन तस्वीरों का प्रदर्शन इन्द्रजीतसिंह करते हैं क्या उन्हें आधुनिक फ़िल्मों की ही पूर्व कल्पना के रूप में नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए? इन्हीं तस्वीरों के प्रसंग में, तिलस्म की विश्वसनीयता पर टिप्पणी करते हुए जीतसिंह कहता है—"चाहे तिलस्म हो मगर इसके बनानेवाले तो आदमी ही थे। जो बात मनुष्य के लिए नहीं हो सकती वह तिलस्म में भी नहीं दिखायी जा सकती···।" (भाग 21, पृ. 49) इसे सचमुच ही दुर्भाग्यपूर्ण समझना चाहिए कि उपन्यास में वर्णित अदभुत लगनेवाली इन सारी चीज़ों को कैसे भी परीक्षण के अभाव में, भारतीय वैज्ञानिकों का कोई समर्थन नहीं मिल सका जबकि तत्कालीन एवं परवर्ती वैज्ञानिक खोजों ने इनमें से बहुत-सी चीजों की वास्तविकता आज बहुत कुछ स्पष्ट कर दी है।

'चन्द्रकान्ता सन्तति' की कहानी चौबीस भागों में विभाजित है, जो प्रायः दो हज़ार पृष्ठों में कही गयी है। इसमें लेखक ने बड़ी कुशलता के साथ, ऊपरी तौर पर कितनी ही अलग-अलग लगनेवाली कहानियों को एक सूत्र में पिरो सकने की अद्भुत क्षमता का परिचय दिया है। पात्रों की बेहिसाब भीड़ में-से कितने ही लोग तिलिस्म या शत्रुओं की क़ैद में से निकलकर अपने सम्बन्धियों और परिवारवालों से मिलते हैं जिन्हें उन लोगों ने मृत समझ लिया था। गोपालसिंह, बलभद्रसिंह, सूर्य, इन्दिरा, दिलीप शाह, भरतसिंह, अर्जुनसिंह आदि इसी प्रकार के लोग हैं। कुछ लोग सुरक्षा एवं प्रतिशोध की दृष्टि से वेश बदलकर रहते हैं—जैसे लक्ष्मी देवी—और बाद में भेद खुलने पर अपने सम्बन्धियों एवं परिवारवालों से उनकी भेंट वैसे ही होती है जैसे कि कोई मृत व्यक्ति अकस्मात् ही अपने सम्बन्धियों से आ मिला हो। इनमें

भूतनाथ की स्थिति थोड़ी भिन्न प्रकार की है, लेकिन लेखक ने उसके जीवन के अनुभवों को भी मूलकथा में विन्यस्त कर सकने का उपाय निकाल लिया है और इससे भी बड़ी बात यह है कि आगे के लिए उसी की जीवनी के आधार पर लेखक अगले उपन्यास की परिकल्पना का संकेत भी दे देता है। कभी-कभी तो इन कहानियों के अन्दर भी कहानियाँ चलती हैं जैसे भूतनाथ के प्रसंग में नागर की कहानी। उपन्यास की मूल कथा में विन्यस्त इन बहुत-सी कहानियों में आत्मकथात्मक उपन्यास की सम्भावनाओं का संकेत सरलता से पाया जा सकता है। आत्मकथा और जीवनी के अतिरिक्त इस उपन्यास में कितने ही स्थलों पर पत्रों का इस्तेमाल भी हुआ है। राजा सुरेन्द्रसिंह को लिखे गये गोपालसिंह के पत्रों में इन्दिरा की कहानी कही गयी है। इसी तरह इन्द्रजीतसिंह के लिखे और भूतनाथ से सम्बन्धित पत्र भी कथा-संगठन की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी पात्र द्वारा छिपकर सुनी हुई बातों को कोई अन्य व्यक्ति अपने बयान में ज्यों का त्यों इस्तेमाल करता दिखायी देता है और तब यह शंका मन में उठे बिना नहीं रहती कि बरसों बाद दूसरे की सुनायी गयी बातों को कैसे इस तरह दोहरा पाना सम्भव हो सकता है ? इससे स्थिति की सारी विश्वसनीयता प्रभावित हुए बिना नहीं रहती है। दिलीपशाह के बयान में काशी में, मनोरमा के घर पर दारोगा और मनोरमा की बातें—षड्यन्त्रपूर्ण योजनाओं की नितान्त गुप्त बातें—गिरजाकुमार छिपकर सुनने का वर्णन करता है। बरसों बाद अपने बयान में दिलीप शाह उसी प्रत्यक्ष शैली में उस सबको प्रस्तुत करता है। शिल्प-संयोजन की दृष्टि से इस प्रकार के उदाहरण बहुत अच्छा प्रभाव नहीं छोड़ते हैं और यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पात्रों और स्थितियों की स्वाभाविकता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण लेखक के लिए कथानक के बिखरे हुए सूत्रों को जोड़ना है।

लेकिन कथा के इन बिखरे हुए सूत्रों को लेखक बड़े कौशल से उठाता है और वर्णन की छोटी-से-छोटी बात को भी फ़ालतू नहीं जाने देता है। जब कमलिनी भूतनाथ के कागज़ लेने के लिए मनोरमा के यहाँ जाती है तो वहाँ एक कमरे में उसे तुरन्त का मरा हुआ घोड़ा दिखायी देता है। उस समय वहाँ उसका कोई विशेष औचित्य या कारण नजर नहीं आता है। लेकिन लगता है लेखक जैसे रूसी उपन्यासकार तुर्गनेव के इस सिद्धान्त से पूरी तरह सहमत हो कि कमरे के वर्णन में अगर आप दीवार पर टँगी बन्दूक़ दिखाते हैं तो जल्दी ही किसी अगले अध्याय में उसके इस्तेमाल का अवसर भी आना चाहिए। बहुत आगे चलकर जमानिया के तिलस्म से जब इन्दिरा, इन्द्रजीतसिंह, आनन्दसिंह और कमलिनी आदि को अपनी छूटी हुई आपबीती सुनाती है तो मनोरमा के प्रसंग में, जिसने उसकी माँ बनकर उसे धोखा दिया, घोड़े का पेट चीरकर उसकी ताज़ा आँतों में रखकर ज़हरीली दवा तैयार करने का भी उल्लेख करती है। इस तरह कई खण्डों के बाद कमलिनी के द्वारा

ताज़ा मरा हुआ घोड़ा देखे जाने का औचित्य स्वतः ही प्रमाणित हो जाता है। उसी कमरे में जिन दो आदमियों की लटकती हुई लाशों को कमलिनी ने देखा था और तब केवल वातावरण की भयंकरता बढ़ाने के लिए ही सबकुछ जुटाया गया-सा लगा था, इन्दिरा की इसी कहानी से पता चलता है कि वे नानू और वरदेवू की लाशें थीं जो मनोरमा के नौकर थे और जिनमें से एक को मनोरमा ने इन्दिरा की सहायता करने के अपराध में मार दिया था और दूसरे पर शक होने के कारण जो कि उसने वरदेवू की सहायता से इन्दिरा के निकल भागने की खबर मनोरमा को स्वयं दी थी लेकिन इन्दिरा की होशियारी और बुद्धि तत्परता ने स्थिति को काफ़ी कुछ बदल दिया था ··

निस्संदेह, इतने विशाल तथा जटिल कथानक में छोटी-से-छोटी बात को भी इस तरह याद रखना और बिखरे एवं असम्भव से दिखायी देनेवाले सूत्रों को जोड़ सकने की अपनी अद्भुत क्षमता के कारण हिन्दी में आज भी कोई दूसरा उसन्यास-कार दिखायी नहीं देता जो इस क्षेत्र में देवकीनन्दन खत्री के समक्ष ठहर सके।···

भूतनाथ (अपूर्ण)

'भूतनाथ' को लेखक ने स्वयं ही 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का परिशिष्ट भाग कहा है। इक्कीस भागों में सम्पूर्ण इस उपन्यास के प्रारम्भिक छह भाग देवकीनन्दन खत्री द्वारा रचित हैं, जिनका प्रकाशन सन् 1907 से सन् 1912 के बीच हुआ। जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, सन् 1913 में देवकीनन्दन खत्री की मृत्यु के बाद, इस अधूरे उपन्यास को उनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने पूरा किया और भाग 7 से 21 तक इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 1915 से लेकर सन् 1935 के बीच हुआ। हमें चूँकि देवकीनन्दन खत्री की रचनाओं तक ही अपने को सीमित रखकर चलना है इसलिए हमारी चर्चा 'भूतनाथ' के प्रारम्भिक छह भागों पर ही केन्द्रित होगी।

'भूतनाथ' को 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का परिशिष्ट भाग कहने का औचित्य यही है कि इसमें भूतनाथ के उसी क़िस्से को बयान किया गया है जिसका वायदा भूतनाथ महाराज सुरेन्द्रसिंह से 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में कर चुका है कि अलग से वह अपनी विस्तृत जीवनी लिखकर उसकी सेवा में प्रस्तुत करेगा ताकि उसके चरित्र का वास्तविक परिचय सब लोगों को मिल सके और उसके बारे में सही और सच्ची राय बना सकने की सुविधा प्राप्त हो सके। यही कारण है कि भूतनाथ की यह जीवनी जिसे बाक़ायदा एक उपन्यास के रूप में लिखा गया है, उसी प्रकार 'चन्द्र-कान्ता' सन्तति' के आगे की कहानी नहीं है, जिस रूप में 'चन्द्रकान्ता सन्तति' 'चन्द्रकान्ता' के आगे की कहानी है। भूतनाथ की यह जीवनी, काल चेतना की दृष्टि

से, अपने पूर्ववर्ती उपन्यास 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के समानान्तर चलती है। यही कारण है कि उसके बहुत-से सूत्र सीधे तौर पर 'चन्द्रकान्ता सन्तति' से जुड़े हुए हैं। लेकिन फिर भी उसका अधिकांश, पूर्ववर्ती कहानी के समानान्तर चलते हुए भी अपने में एक स्वतन्त्र कहानी की हैसियत रखता है। जिस ढंग से 'भूतनाथ' शुरू होता है उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि लेखक आसानी से उसे एक आत्मकथा शैली के उपन्यास के रूप में लिख सकता था। यदि सचमुच ही ऐसा हो सका होता तो 'भूतनाथ' का महत्त्व उसके तिलस्मी—ऐयारी उपन्यास होने से कहीं अधिक उसके एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास होने में होता। लेकिन क़िस्सागोई का जो प्रचलित रूप लेखक के सामने था उसे देखते हुए ऐसा कोई क़दम उठाना बेहद ज़ोखिमपूर्ण भी साबित हो सकता था। कौतूहल, षड्यन्त्रों और जटिल कथा-सूत्रों के सहारे चलनेवाली कहानी के लिए जो सब अनिवार्य रूप से 'भूतनाथ' में है, आत्मकथा शैली का सँकरा रास्ता कदाचिद् बहुत उपयुक्त भी नहीं होता। इसी-लिए लेखक ने शुरू में ही स्पष्ट करते हुए लिखा है—"आज मैं श्रीमान् महाराज सुरेन्द्रसिंह की आज्ञानुसार अपनी जीवनी लिखने बैठा हूँ, परन्तु मैं इसे जीवनी के ढंग और नियम पर न लिखकर उपन्यास के ढंग पर लिखूँगा, क्योंकि यद्यपि लोगों का कथन यही है कि मेरी जीवनी से लोगों को नसीहत होगी परन्तु ऐबों और भयानक घटनाओं से भरी हुई मेरी नीरस जीवनी कदाचित् लोगों को रुचिकर न हो, इस ख्याल से जीवनी का रास्ता छोड़ इस लेख को उपन्यास के रूप में लाकर रस पैदा करना ही मुझे आवश्यक जान पड़ा।" (भाग 1, पृ० 3)

इन प्रारम्भिक छह भागों की कहानी में कथा-सूत्रों की असाधारण जटिलता या तिलस्मी रहस्यों की भरमार नहीं है। राजा शिवदत्त के कोप से बचकर प्रभाकर-सिंह और इन्दुमती अपना घर छोड़कर भाग आये हैं। भूतनाथ जब उन्हें सहायता के लिए अपने साथ ले जा रहा होता है तभी प्रभाकरसिंह उसकी घाटी की सुरंग में से बड़े रहस्यमय ढंग से गायब हो जाता है। दरअसल उस घाटी के ही एक भाग में जिसका रास्ता थोड़ी दूर तक एक रहकर फिर दो भागों में बँट जाता है, दयाराम की दो पत्नियाँ सरस्वती और जमना रहती हैं, जो इन्द्रदेव के संरक्षण में रहकर, भूतनाथ द्वारा मारे गये अपने पति की हत्या का बदला भूतनाथ से लेने का संकल्प ले चुकी हैं। भूतनाथ से अपनी पुरानी मित्रता के कारण इन्द्रदेव भूतनाथ के विरोध में जाकर सहायता का कैसा भी आश्वासन उन दोनों स्त्रियों को नहीं देता है लेकिन वह इस बात पर हमेशा नज़र रखता है कि भूतनाथ उन दोनों स्त्रियों को किसी प्रकार का दुःख न पहुँचा सके। इन्द्रदेव की ही योजना के तहत वे दोनों स्त्रियाँ—दयाराम की पत्नियाँ—मृत घोषित कर दी गयी हैं और भूतनाथ ही नहीं, प्रायः सभी लोग यह मानकर चलते हैं कि वे मर चुकी हैं। उनके मरने की सूचना से भूतनाथ को प्रसन्नता भी होती है कि दयाराम की उसके द्वारा हो गयी हत्या का

भेद जाननेवाले कम-से-कम दो लोग और कम हो गये। इन्द्रदेव ने इन दोनों स्त्रियों को चेहरे पर चढ़ाये रखनेवाली एक ऐसी झिल्ली दे दी है जिसके कारण वे अपनी शक्ल बदलकर रह रही हैं। ये दोनों जब-तब भूतनाथ से छेड़खानी करके उसे परेशान करते रहने की योजनाएँ बनाती रहती हैं और प्रभाकरसिंह को भी वस्तुतः ये ही ले आयी हैं। पारस्परिक ऐयारी के कितने ही प्रदर्शनों के बाद ये सब लोग संगठित होकर भूतनाथ के मुक़ाबले में आ जाते हैं। जमानिया के राजा गिरिधर-सिंह का छोटा भाई भैया राजा, जो तिलस्म के बहुत-से भेदों का जानकार है, जमानिया के दारोगा और भूतनाथ के विरोध में दयाराम की पत्नियों की सहायता करता है। धीरे-धीरे भूतनाथ पर सरस्वती और जमना का रहस्य प्रकट हो जाता है और यह भी पता चलता है कि दयाराम मरा नहीं है, अभी भी दारोगा की क़ैद में है। भूतनाथ जिस व्यक्ति को दयाराम समझकर उसकी हत्या के अपराध-बोध से पीड़ित रहा है वह वस्तुतः राजसिंह का भतीजा था जिसे दिलीपशाह दयाराम समझकर ही क़ैद से छुड़ा लाया था और इसीलिए उसने भूतनाथ से यही कहा था कि उसने दयाराम की हत्या कर दी और हड़बड़ी में भूतनाथ ने भी यही समझा कि उसके हाथ से मारा जानेवाला व्यक्ति उसका मालिक दयाराम ही है।···

तिलस्मी घाटी का यह संसार और सुरंगें आदि स्थान की दृष्टि से थोड़ा भिन्न होने पर भी अपने स्वरूप में लगभग वैसी ही हैं जिनसे हम पिछली दोनों कृतियों में विस्तार से परिचित हो चुके हैं। जहाँ तक उपन्यास के नैतिक आग्रह का सवाल है वह पूर्णतया वही है, जो उससे पूर्ववर्ती रचनाओंमें है—अर्थात् जो जैसा करेगा वैसा ही भरेगा। हरदेई के वेश में छिपे भूतनाथ के शिष्य रामदास से प्रभाकरसिंह कहता है—"यह जगत ही कर्म प्रधान है जो जैसा करेगा, वैसा ही फल भोगेगा···।" (भाग 3, पृ० 26) सनातन हिन्दू आदर्शों और धार्मिक आस्था को लेकर भी स्थिति में कोई परिवर्तन आया नहीं लगता है। एक स्थल पर प्रभाकरसिंह मालती से कहता है—"तुम्हारी बातों से मुझे ख्याल हुआ था कि तुम अभी तक कुँआरी हो। मगर अब तुम्हारे ढंग देखकर तुम्हारे इस कथन पर मुझे बड़ा खेद होता है कि मैं आपको उसी भाव से देखती हूँ, जिस भाव से कोई धर्मपत्नी अपने देवतुल्य पति को देखती है। जब तुम एक आदमी के साथ ब्याही जा चुकी हो और एक औलाद भी तुम्हें हो चुकी तो तुमको मेरे साथ अर्थात् किसी दूसरे पुरुष के साथ ऐसा बर्ताव न करना चाहिए, ऐसे धर्मविरुद्ध कार्य का नतीजा अच्छा नहीं होता···।" (भाग 4, पृ० 46)

इन सारी बातों के उल्लेख करने का मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि 'भूतनाथ' के वास्तविक वैशिष्ट्य को रेखांकित करने में सहायता मिल सके। एक तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास की सारी प्रकृत सीमाओं के बावजूद 'भूतनाथ' का महत्त्व इस बात में है कि उसका लेखक भूतनाथ को केन्द्र में रखकर उसकी चारित्रिक रेखाओं को

बड़े स्पष्ट और विश्वसनीय ढंग से उभारने में सफल हो सका है। क़िस्सागोई के सारे आकर्षण को सुरक्षित रखते हुए 'भूतनाथ' अपने मुख्यपात्र की मानसिक बनावट, तनाव और अन्तर्द्वन्द्व को अंकित करने की कोशिश करता है और इस तरह तत्कालीन औपन्यासिक पात्रों की एक आयामिता को नया अर्थ और विस्तार देने की एक सार्थक पहल करता है।

भूतनाथ के सम्पर्क में आनेवाले विभिन्न लोग अपने-अपने ढंग से उसके चरित्र का मूल्यांकन करते हैं। इन्द्रदेव उसकी उपमा कौवे, गिद्ध और कुत्ते से देता है। भैया राजा की स्वीकृति है—"भूतनाथ मामूली आदमी नहीं है।"⋯जमानिया का दारोगा उसका मूल्यांकन करते हुए कहता है—"गदाधरसिंह लालची है, दौलत के आगे वह धर्म, ईमान, और इज़्ज़त वग़ैरह कुछ नहीं समझता।" लेखक स्वयं उसके बारे में टिप्पणी करते हुए कहता है—"एक पाप को छिपाने के लिए उसे दूसरे पाप की ज़रूरत पड़ी और दूसरे के लिए तीसरे की।" भूतनाथ का चरित्र एक आयामी और सपाट नहीं है, इसलिए कोई भी एक मूल्यांकन उसके लिए अधूरा और अपर्याप्त साबित होता है। उसका अपने मानसिक तनाव और अन्तर्द्वन्द्व के कारण भी उसके चरित्र को बहुत कुछ इन रूपों में गढ़ा जा सकना सम्भव हो सका है कि उसे लेकर पहले से कुछ कह पाना मुश्किल होता है। अपनी इस विशेषता के कारण वह दूसरों की ही नहीं स्वयं अपनी भविष्यवाणियाँ भी मिथ्या साबित करता चलता है। जब भूतनाथ भैया राजा के वेश में, देवनन्द जंगल से इन्द्रदेव के साथ उसके निवास 'कैलाश' में जमना, सरस्वती, इन्दुमती और प्रभाकरसिंह आदि से भेंट करने जाता है, उन्हें गिरफ़्तार कर लेने का मंसूबा बाँधकर, तो बातों ही बातों में, यह न जानते हुए कि इन्द्रदेव भूतनाथ से ही बात कर रहा है, वह भूतनाथ को क्षमा कर देने की बात कहता है, बशर्ते वह भविष्य में ठीक-ठाक रहे। इन्द्रदेव यह भी कहता है कि कुछ दोषों के बावजूद भूतनाथ में इतने गुण हैं कि उसकी तो बात ही क्या भगवान भी उसे माफ़ कर देगा। इन्द्रदेव की इन बातों का भूतनाथ पर गहरा असर होता है उन लोगों को क़ैद करने और दुःख देने का इरादा मुल्तवी करके वह अकेला ही वापस लौट आता है। इसी तरह भैया राजा जब उसे तिलिस्म में क़ैद कर लेता है तो हतास और दुखी होकर वह जो प्रलाप करता है उसमें उसके अपने को बदल लेने का आश्वासन ही नहीं होता बल्कि पश्चात्ताप की झोंक में वह अपने को इस दुनिया में रहने योग्य भी नहीं समझता है। उसके इसी उद्गार पर टिप्पणी करते हुए, एक गुप्त आवाज़ के रूप में भैया राजा उद्घोषणा करता है—"नेकी और नेकनीयती के साथ रहनेवाले को दुनिया छोड़ने की कोई ज़रूरत नहीं⋯।" (भाग 4, पृ० 93)

एक ओर भूतनाथ अपने स्वामी दयाराम की आकस्मिक हत्या के अपराध बोध से पीड़ित है दूसरी ओर वह उस पाप को छिपाने के लिए एक-एक करके उन सबको

मार डालने की कोशिश करता है जो उसके भेद को जानते हैं। एक अपराधी चेतना का मनोद्वन्द्व और उस अपराध-बोध से उसकी मुक्ति की सचेत कोशिश में ही वस्तुतः भूतनाथ के चरित्र का सारा आकर्षण एवं वैशिष्ट्य निहित है।

भूतनाथ के चरित्र में उसके मानसिक तनाव और अन्तर्द्वन्द्व में, हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास की सम्भावनाओं की खोज रोचक हो सकती है। भूतनाथ के हाथ से मरनेवाला व्यक्ति राजसिंह का भतीजा था। जिसे दिलीपशाह दयाराम के धोखे में ले आया था। दिलीपशाह की तरह स्वयं भूतनाथ भी वर्षों तक यही समझता था कि वही दयाराम का हत्यारा है—एक ऐसे आदमी का हत्यारा जो नेक और निर्दोष होने के साथ ही उसका स्वामी भी था। इस अपराध-बोध के सबब से उसके मन में एक ऐसी ग्रन्थि पड़ जाती है जिसके कारण वह कभी चैन से नहीं बैठ पाता है। इस अपराध-बोध के कारण वह हीनता की ग्रन्थि का शिकार भी हो जाता है। जैसे उसका अपने उपर से विश्वास ही उठ जाता है और जब कोई ऐसा आदमी उसे मिलता है जो उसके भेद को जानता है तो अपनी सारी वीरता और चालाकी के बावजूद वह असहाय हो जाता है। यहाँ तक कि वह रोता और गिड़गड़ाता ही नहीं है, बल्कि कभी-कभी तो ऐसे आदमी के सामने घबराहट के कारण बेहोश होकर गिर तक पड़ता है। लेकिन जब उसे यह मालूम हो जाता है कि उसके हाथ से मरनेवाला व्यक्ति दयाराम न होकर राजसिंह का भतीजा था और दयाराम को जमानिया के दारोगा ने तिलस्म में क़ैद कर रखा था जहाँ इन्द्रदेव और भैया राजा के प्रयत्नों से छूटकर वह पुनः अपनी पत्नियों—सरस्वती और जमना—से मिल जाता है तो उसमें एक आधारभूत परिवर्तन घटित होता है। जमना और सरस्वती से ही नहीं और दूसरे लोगों से भी जो इस मामले से सम्बद्ध थे उसकी सारी शत्रुता समाप्त हो जाती है, उसका खोया हुआ आत्मविश्वास लौट आता है और वह एक सामान्य आदमी का जीवन जीने लगता है। मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर अपने उपन्यासों की रचना करनेवाले हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'प्रेत और छाया' का कथ्य भी प्रायः इसी तरह का है। 'प्रेत और छाया' के नायक पारसनाथ के मन में यह बात बिठा दी गयी है कि उसकी माँ कुलटा है और वह अपने वास्तविक पिता की सन्तान न होकर एक जारज सन्तान है। इसके परिणामस्वरूप वह एक गहरी हीनता-ग्रन्थि का शिकार हो जाता है और सम्पूर्ण नारी जाति पर से ही उसका विश्वास उठ जाता है। मानसिक तनाव और असन्तुलन की स्थिति में एक-एक करके वह कितनी ही नारियों से सम्बन्ध स्थापित करता है और उनमें से किसी के भी प्रति कोई ज़िम्मेदारी महसूस किये बिना वह उन्हें छोड़कर आगे बढ़ जाता है। उसे लगता है कि जब उसकी माँ ही कुलटा है और चरित्र-स्खलन की शिकार है तो फिर किसी भी दूसरी स्त्री को पवित्र रह सकने का क्या अधिकार है? इस बीच वह गहरे मान-

सिक तनाव और असन्तुलन का जीवन जी रहा होता है। लेकिन फिर अकस्मात् ही अपने पिता से उसे यह सूचना मिलती है कि उसकी पिछली जानकारी ग़लत है। वह अपने वास्तविक पिता की सन्तान है और उसकी माँ भी एक साध्वी नारी है। इन नये तथ्यों के प्रकाश में आने से उसके चरित्र में एक आधारभूत परिवर्तन होता है। मानसिक तनाव और असन्तुलन से मुक्त होकर, अपने किये के प्रायश्चित्त स्वरूप एक वेश्या से विवाह कर वह एक सहज और सामान्य आदमी का जीवन जीने लगता है।...

'भूतनाथ' में एक स्थल पर सरस्वती छन्नो से कहती है—"मनुष्य की शारीरिक अवस्था भी आन्तरिक अवस्था के ही अधीन है। जिसकी अन्तरात्मा प्रसन्न है उसका शरीर भी सबल और पुष्ट रहता है और जिसकी अन्तरात्मा दुःखी है उसका शरीर बिना रोग के भी सदा रोगी रहता है।..." (भाग 5, पृ० 15) इस उद्धरण से क्या यह अनुमान लगाना ग़लत होगा कि तब तक हिन्दी जगत् फ्रॉयड के विचारों से परिचित होने लगा था ? सन् 1886 में वियना में उसने अपना जो क्लीनिक खोला था उसमें चिकित्सा की सामान्य पद्धति ही यह थी कि विभिन्न शारीरिक रोगों की जड़ वह रोगियों के मन में ढूंढ़ता था और मन के माध्यम से ही वह रोगियों के शरीर का इलाज करता था।

'भूतनाथ' का जितना अंश देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखा जा सका है, वह सम्पूर्ण उपन्यास के एक तिहाई से भी कम है। उसके आगे का अंश दुर्गा प्रसाद खत्री ने लिखा है। हो सकता है, उसके लिए उन्हें अपने पिता से कुछ संकेत मिले हों। इसे लेकर अब सिर्फ़ अनुमान ही लगाया सकता है कि यदि यह पूरा उपन्यास देवकीनन्दन खत्री लिख सके होते तो उसका क्या रूप होता ! लेकिन जितना भी अंश उनके द्वारा लिखा उपलब्ध है उससे उसकी सम्भावनाओं का अनुमान लगा लेना मुश्किल नहीं रह जाता है।...

3

अन्य रचनाएँ

पिछले अध्याय में विस्तार से चर्चित रचनाओं के अतिरिक्त देवकीनन्दन खत्री ने कुछ अन्य रचनाएँ भी लिखी हैं। इन रचनाओं के प्रकाशन काल सन् 1893 से सन् 1902 के बीच हैं। इससे स्पष्ट होता है कि 'चन्द्रकान्ता' के प्रकाशन के बाद जहाँ 'नरेन्द्र मोहिनी' (1893) 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के शुरू करने के पूर्व इन दोनों बड़े उपन्यासों के बीच में लिखा गया है, वहीं अन्य उपन्यास **'कुसुम कुमारी'** (1894-1898) **'वीरेन्द्र वीर अर्थात् कटोरा भर खून'** (1895) और **'काजर की कोठरी'** (1902)—'चन्द्रकान्ता सन्तति' की रचना और प्रकाशन काल के बीच लम्बे अन्तराल के उपन्यास हैं। यह हो सकता है कि एक ही लम्बी रचना को निरन्तर लिखते-लिखते ऊबकर स्वाद बदलने के कारण लेखक ने इन उपन्यासों की योजना बनायी हो। तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास से भिन्न प्रकार की रचना की इच्छा या वैसी रचनाओं के पाठकों की माँग भी इन रचनाओं के लिखे जाने का एक तात्कालिक कारण हो सकती है।

'नरेन्द्र मोहिनी' बिहार के प्रतापी राजा उदयसिंह के पुत्र नरेन्द्रसिंह की कहानी है। रम्भा से अपने विवाह के मौक़े पर बारात में से ही वह भाग जाता है क्योंकि वह विवाह के झंझट से अपने को बचाकर रखना चाहता है। एक जंगल से गुज़रते हुए उसे एक स्त्री की चीख़ सुनायी देती है। पास जाकर देखने पर मालूम होता है कि एक सुन्दर युवती को पेड़ से उल्टा लटकाकर मार डालने की कोशिश की गयी है लेकिन वह अभी भी ज़िन्दा है। यही युवती मोहिनी है जिसकी करुण-कथा सुनकर नरेन्द्र उससे प्रेम करने लगता है और प्रथम दर्शन में यही स्थिति मोहिनी की भी होती है। मोहिनी के बताने पर नरेन्द्र पास ही की ज़मीन खोदकर लकड़ी का एक सन्दूक़ निकालता है जिसमें मोहिनी की छोटी बहन गुलाब बन्द है। शत्रु उसकी हत्या के बाद उसे गाड़ गये हैं लेकिन वह भी अभी पूरी तरह से मरी नहीं है और

साधारण-से उपचार से ही ठीक हो जाती है। बाद में पता चलता है कि ये दोनों युवतियाँ अपनी बड़ी बहन केतकी की नृशंसता का शिकार हुई हैं। एक षड्यन्त्र के कारण ये लोग फिर एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। भटकता हुआ नरेन्द्र केतकी के यहाँ पहुँचने पर केतकी को ही मोहिनी समझ लेता है। वह उसकी कुटिल योजनाओं का शिकार हो सके इसके पूर्व ही रंभा और उसकी सखी तारा, जो घर से नरेन्द्र की तलाश में भागकर केतकी के यहाँ दासी बनकर रह रही हैं, उसे सारी वस्तु-स्थिति समझा देती हैं। लेकिन केतकी इन लोगों की बातें सुन लेती है और वह इन लोगों से बदला लेने को ही होती है कि अकस्मात् ही उसके घर पर बहुत-से सैनिक हल्ला बोल देते हैं और उसे भागकर अपनी जान बचानी होती है। कहानी में ऐयारी के कमाल नहीं हैं गोकि उनके लिए गुंजाइश खूब थी। नरेन्द्रसिंह के अकस्मात् ग़ायब हो जाने पर उसका भाई जगजीतसिंह और उसका जासूस हरी वेश बदलकर घटनाओं एवं षड्यन्त्रों का पता लगाने की कोशिश करते हैं। रम्भा, मोहिनी, केतकी और नरेन्द्रसिंह की कहानियों के अलावा उस राजकुमार की कहानी भी इसमें मौजूद है जिसके साथ, नरेन्द्र के भाग जाने के बाद, रम्भा की शादी दुबारा तय कर दी जाती है और रम्भा इस तर्क के आधार पर यह विवाह करने से इंकार कर देती है कि हिन्दू स्त्री केवल एक बार पतिवरण करती है और नरेद्रसिंह के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष की कल्पना भी उसके लिए भयावह है। पूरा कथानक अकारण जटिलताओं और अस्वाभाविक घटनाओं से भरा है। केतकी के घर पर रम्भा से मिलने पर, वास्तविकता का पता लगने पर नरेन्द्र इस बात से दुखी होता है कि इतनी सुन्दर और चरित्रवान युवती को छोड़कर वह भाग गया था। उधर जब मोहिनी को मालूम होता है कि नरेन्द्र रम्भा के प्रति न केवल आकृष्ट है बल्कि उसका तिरस्कार करने के कारण दुःखी भी है तो उसका प्रेम प्रति-शोध की ज्वाला में धधकने लगता है। रम्भा को अपनी प्रतिद्वन्द्विनी समझकर वह रम्भा की हत्या करने की योजना बनाती है। लेकिन रम्भा बच जाती है। इसी तरह जब वह नरेन्द्र पर भी आक्रमण करती है तो नरेन्द्र भी अपने को सफलतापूर्वक बचा लेता है। अन्त में खिन्न और निराश होकर मोहिनी दीवार से सिर टकरा स्वयं ही अत्महत्या कर लेती है।

'नरेन्द्र मोहिनी' का अन्त लेखक ने दो तरह से लिखा है। जो पाठक दुखान्त पसन्द करते हों, उनके लिए मोहिनी द्वारा सोई हुई रम्भा की हत्या, फिर ज़हर देकर नरेन्द्र की हत्या और अन्त में स्वयं अपनी हत्या की योजना की गयी है। सुखान्त पसन्द करनेवाले पाठकों के लिए अपनी होशियारी के कारण न सिर्फ़ रम्भा बच जाती है बल्कि वह नरेन्द्रसिंह को भी बचा लेती है और अपने बुरे कर्मों का फल भोगकर मोहिनी एक दुःखपूर्ण मृत्यु वरण करने पर विवश होती है। लेकिन पूरी कहानी की परिकल्पना पर गम्भीरता से विचार करने के बाद यह समझना

मुश्किल नहीं होता कि मूल योजना दुःखान्त की ही थी। कहानी का शीर्षक 'नरेन्द्र मोहिनी' से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि रम्भा के मुक़ाबले लेखक मोहिनी को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर उसे कथा के केन्द्र में रखना चाहता है। मोहिनी के रूप में कदाचित् वह एक ऐसी युवती का चित्रण करना चाहता था जो नरेन्द्र को पूरी गम्भीरता और निष्ठा से चाहती है लेकिन रम्भा के बीच में आ जाने के कारण वह अपने और नरेन्द्र के बीच किसी तीसरे को सहन नहीं कर पाती है और नरेन्द्र को छोड़कर स्वयं भी ज़िन्दा रह सकने की स्थिति में नहीं है। अतः वह उन दोनों की हत्या करके स्वयं अपनी हत्या भी कर लेती है। कहानी का यह अन्त, किंचित् भिन्न होते हुए भी, अपने मूल रूप में शेक्सपीयर के सुप्रसिद्ध दुखान्त नाटक 'ऑथेलो' से प्रभावित है। लेकिन लेखक मोहिनी की आन्तरिक पीड़ा और अन्तर्द्वन्द्वों की एक झलक दे पाने में भी सफल नहीं हुआ है। इसके विपरीत लोक-रुचि से निर्देशित होने की अपनी विवशता के कारण, वह निहायत कृत्रिम और आरोपित ढंग से कहानी के सुखान्त की कल्पना करता है जिसमें अकारण ही घटनाओं को तोड़-मरोड़कर, संयोगों एवं आकस्मिकताओं का सहारा ही नहीं लेना पड़ता है बल्कि पूरी कहानी को अस्वाभाविक एवं अविश्वसनीय घटनाओं से भर देना भी ज़रूरी हो जाता है। लेखक चाहता है कि पाठक उसकी इस बात पर भी विश्वास करें कि नरेन्द्रसिंह के ज़हर को संखिया से दूर करने का उपाय रम्भा ने केतकी के यहाँ सिर्फ़ पाँच-सात दिन रहकर ही जान लिया जबकि किसी अन्तरंगता के अभाव में ऐसी गुप्त और महत्त्वपूर्ण बातों का केतकी द्वारा उसे बता दिये जाने का कोई औचित्य नहीं हो सकता है। ऐसा लगता है कि लोक-रुचि के इस ग़ैर ज़रूरी नियन्त्रण के कारण ही लेखक मोहिनी के चरित्र को अपनी मूल योजना और परिकल्पना के अनुसार नहीं गढ़ सका है और सारा कुछ गड्ड-मड्ड होकर रह गया है। उसके प्रति-शोध की वास्तविक पीड़ा को वह रम्भा के सनातन हिन्दू आदर्शों के आगे कोई महत्त्व नहीं दे पाता है। अपने युग के अल्पशिक्षित और सीमित साहित्यिक-कलात्मक संस्कारों वाले पाठक वर्ग की अभिरुचियों के कारण न सिर्फ़ यह कि लेखक को अपनी कहानी के मूल ढाँचे में परिवर्तन करना ज़रूरी हो जाता है बल्कि उन आदर्शों के लिए भी उसे जगह निकालनी पड़ती है जिन पर उसके तेज़ी से बढ़ते हुए पाठक वर्ग की गहरी आस्था थी। कलात्मक मूल्यों और आरोपित आदर्शों के इस तनाव में कला मूल्यों को दरगुज़र करके आरोपित आदर्शों को तरजीह देना लेखक के लिए एक विवशता है क्योंकि उसे अकेले नहीं अपने हज़ारों पाठकों को अपने साथ लेकर आगे चलना है।···

'कुसुम कुमारी' (1894-1898) बिहार के दो पड़ोसी राज्यों की कहानी है जिसमें राजा इन्द्रनाथ के पुत्र रनवीरसिंह और राजा कुबेरसिंह की पुत्री कुसुम कुमारी की प्रेम कहानी वर्णित है। राजा इन्द्रनाथ और कुबेरसिंह घनिष्ठ और

पुश्तैनी मित्र हैं जिन दोनों के पिता शिकार के समह डाकुओं की मुड़भेड़ में मारे जाते हैं। परिस्थितियों के कारण इन दोनों को न सिर्फ़ लम्बे समय तक अपने को छिपाये रखना होता है, अपने को मृत घोषित और प्रचारित करके, बल्कि बचपन में ही वे रनवीर और कुसुम कुमारी का विवाह भी कर देते हैं जिसका भेद थोड़े-से विश्वस्त लोगों के अलावा और किसी को नहीं मालूम है। डाकुओं का वह पुश्तैनी संघर्ष पूरे उपन्यास में विस्तार से अंकित है और एक सशक्त विरोधी पक्ष की हैसियत रखता है, जिसे समाप्त करने के बाद बुराई और बुरे लोगों का समूल नाश करके, रनवीर और कुसुम कुमारी का सुखद मिलन ही नहीं होता, बल्कि उनके पिता भी उन्हें मिल जाते हैं—यह अलग बात है कि संन्यास ले चुकने के कारण राजा इन्द्रनाथ नये सिरे से सांसारिकता में फँसने को तैयार न होकर पुनः जंगल चले जाते हैं और एक सच्चे मित्र के नाते राजा कुबेरसिंह भी उनका अनुकरण करते हैं।

'कुसुम कुमारी' सामन्ती मूल्यों और आदर्शों को महिमा मण्डित करनेवाला उपन्यास है। इसमें अंकित राजा निहायत प्रजावत्सल कोटि के हैं, जो विलासिता से दूर रहकर संन्यासियों जैसा जीवन बिताते हैं। ज्ञान और साधना ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। अपने को कष्टों में डालकर भी वे बुराई का विरोध करते हैं और उसके समूल नाश के लिए पूरी तरह तत्पर दिखायी देते हैं। वे परम्परागत हिन्दू आदर्शों और आचार-पद्धति में गहरी निष्ठा रखते हैं और ऐसा कुछ नहीं करते जो शास्त्र और सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध पड़ता हो। बेहताशा थकान और गर्मी के कारण जब रनवीरसिंह और जसवन्तसिंह के घोड़े पहाड़ी के पास पहुँचकर दम तोड़ देते हैं, तो अपने आस-पास की स्थिति का जायज़ा लेने के ख़्याल से वे लोग पास ही के एक बाग़ में जा पहुँचते हैं। शिद्दत की प्यास के बावजूद बाग में कुआँ और डोल होने पर भी, रनवीरसिंह इसलिए पानी नहीं पीता कि पता नहीं डोल किस आदमी का है और उसके पीने लायक़ है भी या नहीं। छुआ-छूत की यह भावना उसे इस क़दर गहराई से पकड़े हुए हैं कि अन्ततः वह कुएँ पर पड़ी रस्सी में अपनी कमर से बँधी चादर पानी में कई बार डालकर और उसे निचोड़कर अपनी प्यास बुझाता है। इसी तरह राजा कुबेरसिंह कुसुम का विवाह रनवीर से कर देने के बाद, अपने मित्र राजा इन्द्रनाथ की अनुपस्थिति में उनके राज्य की देखभाल करने पर भी, उनकी आय का एक पैसा भी लेना स्वीकार नहीं करते और चूँकि कुसुम कुमारी उनकी अकेली सन्तान है इसलिए उसके विवाह के बाद अपनी सारी सम्पत्ति भी वह उसी की मानते हैं और लड़की तथा दामाद की सम्पत्ति में से कुछ भी स्वीकार नहीं करते। इसीलिए, एक बीच का रास्ता अपनाकर, वह अपने लिए अपने राज्य में से कुछ मौजे अलग निकलवा लेते हैं और इसी आय से अपना गुज़ारा करते हैं। ये सारे लोग प्रारब्ध की शक्ति के आगे नतशिर हैं लेकिन

मानवीय उद्योग और प्रारब्ध के मेल को ही सारी सफलता का आधारभूत कारण स्वीकार करते हैं।

'कुसुम कुमारी' एक प्रेम कहानी है जिसमें सारी विघ्न-बाधाओं के बाद सच्चे प्रेम की विजय होती है और अवरोधक तत्त्वों का विनाश होता है। वैसे तो कुसुम और रनवीर का विवाह बचपन में ही हो चुकता है, लेकिन अपने दीवान सुमेरसिंह का यह भेद केवल कुसुम को ही मालूम है। यह बहुत स्वाभाविक नहीं लगता कि रनवीरसिंह को इस सारी स्थिति और विशेषकर कुसुम कुमारी के बारे में कोई जानकारी ही न हो। भटकने के बाद जब रनवीरसिंह पहाड़ी पर पहुँचता है, तो उसे एक असाधारण रूपवती युवती की मूर्ति दिखायी देती है। उसकी सजीवता और सौन्दर्य पर वह अभिभूत हो ही रहा होता है, तभी यह देखकर उसका आश्चर्य और भी बढ़ जाता है कि उसकी बगल में एक सुदर्शन पुरुष की जो मूर्ति है, वह स्वयं उसी की है। बहुत बाद में यह मालूम होता है कि डाकुओं के सरदार बालेसिंह ने उन मूर्तियों को इसी आशय से यहाँ बनवाकर रखा था कि कुसुम की खोज में जब रनवीरसिंह आयेगा, तो उन मूर्तियों को देखकर वह वास्तविकता का पता लगाना चाहेगा और तब उसे क़ैद कर लेना सरल होगा। उस अपरिचित युवती की आकर्षक मूर्ति को देखकर ही रनवीरसिंह अपना होश खो बैठता है। कुसुम के अपरूप सौन्दर्य के कारण ही रनवीरसिंह के बचपन का साथी जसवन्तसिंह भी अपना ईमान गवाँ बैठता है और बालेसिंह से मिलकर रनवीर को मरवाकर स्वयं कुसुम को प्राप्त करने का स्वप्न देखने लगता है। उधर बालेसिंह स्वयं कुसुम के सौन्दर्य पर रीझा हुआ है और उससे विवाह का सन्देश तक भिजवा चुका है। कुसुम को देखकर जसवन्तसिंह यह सोचता है—'इसने पहिले किसी तरह रनवीर को देख लिया है, या उसकी तस्वीर ही देख ली है और इसी से उसके ऊपर जान दे बैठी है। रनवीर के बदले पहिले मुझे देखती, तो मेरी ही किस्मत जाग जाती…' (पृ. 29)। कुसुम के बारे में यह ग़लत धारणा ही वस्तुतः जसवन्तसिंह के विनाश का कारण बनती है। यह ठीक है कि रनवीर से कुसुम की शादी बचपन में हो चुकी है और इस बात को जानते हुए, एक आदर्श हिन्दू स्त्री के नाते, उसकी अपने पति के रूप में रनवीर में गहरी निष्ठा और भक्ति होनी ही चाहिए। लेकिन चूँकि लेखक बचपन के इस विवाह का भेद बहुत दूर तक छिपाये रखना चाहता है, अपनी कहानी में औत्सुक्य के ख्याल से, कुसुम कुमारी और रनवीरसिंह उसी प्रकार एक दूसरे को प्रेम करते दिखाये गये हैं, जैसे मध्यकालीन सूफ़ी प्रेमाख्यानों में नायक और नायिका करते हैं। उनका प्रेम, प्रेम की मध्यकालीन अवधारणा से मुक्त नहीं है। जब रनवीर उसके घर से यकायक ग़ायब हो जाता है, तो लेखक कुसुमकुमारी की स्थिति का वर्णन इस प्रकार करता है—"वह रनवीर से मिलकर प्रफुल्लित होने की आशा में जान बचाने के लिए दूसरे-तीसरे दिन कुछ थोड़ा-सा अन्न खा लेती है और

तमाम रात आँखों में बिताकर, ईश्वर से रनवीर को कुशलतापूर्वक रखने की प्रार्थना किया करती थी…" (पृ० 167)। यही नहीं, रीतिकालीन नायिकाओं की तरह, द्वितीया का चन्द्र-दर्शन आवश्यक होने के कारण इसी बहाने वह रनवीर से आँखें चार कर लेने का सुख भी प्राप्त करती है कि वह स्वयं भी जहाँ होगा इसी चन्द्रमा को देख रहा होगा। रनवीर और कुसुम के इस सच्चे प्रेम के विसादृश्य के लिए ही शायद लेखक जसवन्त और कालिन्दी की प्रेम-कहानी प्रस्तुत करता है। जसवन्तसिंह को देखे और जाने बिना ही कालिन्दी उससे प्रेम करने लगती है—इस सीमा तक कि उसे प्राप्त करने के लिए वह अपनी स्वामिनी के साथ विश्वासघात ही नहीं करती, बल्कि अपनी सखी मालती की हत्या करने तक में नहीं झिझकती है, जो उसे उसके कार्य की ऊँच-नीच समझाने लगती है। लेकिन पारस्परिक स्वार्थ और वासना से प्रेरित इस प्रेम की परिणति भी उसी के अनुरूप होती है। जिस जसवन्त के लिए वह इतना कुछ करती है, वही उससे भयभीत होकर क़ब्रस्तान में अकेली छोड़कर भाग जाता है। अपनी बुराई के बुरे फल के लिए एक उदाहरण बन सकने से अधिक इन दोनों प्रेमियों की कोई और सार्थकता ही जैसे नहीं है। जसवन्तसिंह रनवीरसिंह के हाथ से मारा जाता है और उसकी तलवार से कटा उसका सिर बालेसिंह—रनवीर के विरोध में जिसे उसने अपना स्वामी बनाया था—के पैरों में आकर गिरता है। कालिन्दी से क्रुद्ध होकर बालेसिंह उसकी नाक काटकर उसे छोड़ देता है और जो अन्त में आत्महत्या कर लेती है।

'कुसुम कुमारी' की कहानी में संयोग और औत्सुक्य के तत्व प्रमुख हैं। कहानी में अधिक और बेकार की जटिलताएँ नहीं हैं जैसी कि 'नरेन्द्र मोहिनी' में हैं। रनवीर और कुसुम की प्रेम कहानी के साथ ही, डाकुओं से मुठभेड़ और उसकी तैयारी भी कहानी में पर्याप्त जगह घेरती है। इन दोनों के लिए सहायक और विरोधी तत्वों के तौर पर कुछ षड्यन्त्र और विश्वासघात भी स्वाभाविक रूप से जुड़ते चलते हैं। भले ही यह बालेसिंह की सुविचारित योजना का एक अंग हो, लेकिन रनवीर और जसवन्त के घोड़े वहीं जाकर दम तोड़ते हैं, जहाँ से उसकी कुटिल योजना का क्षेत्र शुरू होता है। इसी तरह के कितने ही संयोग, एक के बाद एक, कहानी में घटित होते चलते हैं। कहानी में उत्सुकता और कौतूहल बढ़ानेवाले तत्त्वों और स्थितियों का समावेश लेखक पर्याप्त कुशलता के साथ करता है। तस्वीरों के माध्यम से, रनवीरसिंह को बतायी जानेवाली कहानी, बीच में ही अधूरी रह जाती है, क्योंकि बालेसिंह की सेना की चढ़ाई हो जाती है और महल में 'मारो… मारो' का शोर मच जाता है। बाद में भी, युद्ध में घायल जब रनवीरसिंह उस छूटी हुई कहानी को आगे बढ़ाने की बात करता है, तो दीवानजी यह कहकर उत्सुकता को और भी बढ़ा देते हैं कि बीमारी और रंज की हालत में इनके बारे में न बताने की ताक़ीद मालिक ने की हुई है। कालिन्दी के साथ भागनेवाला वह आदमी कौन

है? संघर्ष में जिसकी कलाई वीरसेन की तलवार से कट जाती है और जिसे वीरसेन अपनी हिरासत में ले लेता है? कालिन्दी की नाक कटने के बाद मल्लाहों के वेश में उसे मिलनेवाले वे दो आदमी कौन हैं, जो गुप्त रीति से उसका पीछा करते हैं और उतराई के तौर पर उसकी एकमात्र बची अँगूठी झपटकर, चोर लालटेन के प्रकाश में अपने मुंह उसे दिखाते हैं और उन्हें देखकर वह तुरन्त ही बेहोश होकर गिर पड़ती है? इन और ऐसी ही कितनी ही बातों का भेद कभी-कभी तो इतने बाद में जाकर खुलता है कि प्रायः ही पाठक उन्हें भूल चुका होता है या फिर उसका कौतूहल अपने आप ही शान्त हो चुका होता है।

लेखक अपनी कहानी के विकास में अपने पाठकों की उपस्थिति अनिवार्य मानकर चलता है। अपनी रचनाओं में पाठकों की हिस्सेदारी के लिए लेखक क्या करता है, इसके लिए एक उदाहरण देना उचित होगा—"जब तक ये दोनों (कालिन्दी और उसके साथ का अज्ञात पुरुष) उस पीपल के नीचे पहुँचकर घोड़ों पर सवार हों, तब तक आइये हम लोग वीरसेन की खबर लें और मालूम करें कि बेहोश रनवीरसिंह और ज़ख़्मी दीवान साहब को उसी तरह छोड़ वे कहाँ गये या किस काम में उलझे···" (पृ॰ 111)। कभी-कभी लेखक अपने पाठकों को सीधे सम्बोधित कर उन्हें उस दृश्य में हिस्सेदार बना लेता है, जिसका वर्णन वह करनेवाला होता है।

एक उपन्यास के तौर पर 'कुसुम कुमारी' की इस विशेषता का उल्लेख भी आवश्यक है कि इसमें लेखक अलौकिक चमत्कारों से अपने को बचाने की कोशिश करता है और जो कुछ भी घटित होता है, उसके पीछे वह कभी संयोग को अन्यथा अधिकांश मानवीय बुद्धि को ही सर्वोपरि मानकर चलता है। साधु के द्वारा रनवीर का रंग बदल देना किसी अलौकिक चमत्कार का परिणाम न होकर एक जंगली बूटी का प्रभाव है जो एक महीने तक रंग को वैसा ही रख सकती है। यह बहुत असम्भव इसलिए भी नहीं लगता, क्योंकि इसी प्रकार की जड़ी-बूटियों के लेप और सेवन से वह रनवीरसिंह के भीषण ज़ख़्मों को आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ ठीक कर चुका होता है। जब अपने को सतगुरु के चेले कहनेवाले डाकुओं में से एक काशी गया होता है, तो साधु वेषधारी रनवीर उसे वापस बुलाने का आदेश देता है और थोड़ी ही देर में वह सचमुच आ भी जाता है। इस पर लेखक की टिप्पणी है—"इत्तफ़ाक़ की बात थी कि उन लोगों का सरदार जो किसी काम के लिए सफ़र में गया हुआ था, इसी समय वहाँ आ पहुँचा, मगर इस बात को उन लोगों ने बाबाजी की ही करामात समझी और सभी को विश्वास हो गया कि सतगुरु देवदत्त की गद्दी के महात्माजी (रनवीर) निःसन्देह महान पुरुष हैं"। (पृ॰ 154) साधु और महात्मा माने जानेवाले लोगों के ऐसे ही चमत्कारों पर न सिर्फ़ यह कि लेखक विश्वास नहीं करता है, बल्कि जब भी मौक़ा मिलता है वह उनकी भर्त्सना भी करता है।

'वीरेन्द्र वीर अर्थात् कटोरा-भर खून' (1895) एक अपराध कथा है, जिसे साहित्य के कुछ इतिहास लेखकों ने बिना देखे या पढ़े ही तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास कह दिया है। इस उपन्यास का घटना क्षेत्र बिहार और नेपाल की तराई का भाग है। हरिपुर रियासत का राजा करनसिंह राठू अपने ही एक कर्मचारी वीरसिंह के खिलाफ़ षड्यन्त्र रचता है। वीरसिंह के विरुद्ध वह उसकी पत्नी तारा के पिता सुजानसिंह को इस्तेमाल करना चाहता है, जो उसी रियासत में खजांची है। 'कटोरा-भर खून' का रहस्य सुजानसिंह की एक ऐसी कमज़ोर नस है, जिसे दबाने का भय दिखाकर उससे कुछ भी कराया जा सकता है। बहुत-से रहस्यों और पेंचों के साथ कहानी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है पता चलता जाता है कि राजा करनसिंह राठू एक अत्याचारी और विलासी राजा है। एक ही नाम होने के संयोग का लाभ उठाकर उसने अपने मालिक और वास्तविक राजा करनसिंह की हत्या कर दी है और नेपाल के महाराजा, हरिपुर जिसकी करद रियासत है, को इस भ्रम में डाले रखने में सफल हुआ है कि वही वास्तविक राजा करनसिंह है। वह करनसिंह के बड़े लड़के विजयसिंह की भी हत्या कर देता है और उसके छोटे लड़के वीरसिंह तथा उसकी पुत्री सुन्दरी को अपने यहाँ रख लेता है और अपने मित्र के बच्चे को अपना बताकर उन्हें इसी तरह पाल-पोसकर बड़ा करता है। सुन्दरी जब युवा होती है तो करनसिंह राठू की निगाह उसकी ओर से बदल जाती है। यह देखकर उसकी पत्नी, अपने पति की इच्छा के विरुद्ध, उसका विवाह दूसरी जगह करवा देती है। करन-सिंह राठू अब वीरसिह से भी बदला लेना चाहता है और आगे के खतरे को टालने के लिए वह उसे अपने रास्ते से हटा देने के लिए कृत-संकल्प है। वीरसिंह अपने नाम के अनुरूप ही वीर पुरुष है। उसे हरिपुर राज्य में आतंक मचानेवाले डाकू नाहरसिंह को पकड़ने के लिए भेजे जाने की योजना बनायी जाती है, ताकि वह उस डाकू द्वारा मार दिया जाये और उसकी सुन्दर पत्नी तारा पर करनसिंह राठू का कब्ज़ा हो सके। लेकिन आगे की घटनाएं, जैसा कि स्वाभाविक है, करनसिंह राठू की योजना और षड्यन्त्र के विरुद्ध घटती हैं। धीरे-धीरे पता चलता है कि नाहरसिंह डाकू ही वीरसिंह का बड़ा भाई विजयसिंह है, जिसको करनसिंह राठू के नौकरों ने दयावश हत्या न करके यूँ ही जंगल में छोड़ दिया था। उसकी बहिन सुन्दरी भी करनसिंह राठू के एक तहखाने में क़ैद मिलती है, जिसे शादी के बाद, दो बच्चों की माँ बन जाने पर भी राजा ने घर से उठवाकर क़ैद कर रखा है, ताकि वह उसकी इच्छा के आगे अपने को समर्पित कर दे। 'कटोरा-भर खून' का रहस्य, जो उपन्यास का उपशीर्षक भी है, वस्तुतः यही है कि क़ैद में सुजानसिंह द्वारा सुन्दरी की ही लड़की को मारकर, उसका खून एक कटोरे में भरा जाता है और इसीलिए जब भी 'कटोरा-भर खून' का नाम सुजानसिंह से लिया जाता है, या उसे इसकी याद दिलायी जाती है, तो वह कांपने लगता है। विजयसिंह और

वीरसिंह के पिता, राज्य के वास्तविक राजा करनसिंह भी, एक साधु के वेश में जीवित निकलते हैं क्योंकि उन्हें ज़हर देकर कुएँ में डाल देने के तुरन्त बाद करनसिंह राठू का क़ाफ़िला आगे बढ़ गया था और उधर से निकलनेवाले किसी व्यक्ति की तात्कालिक चिकित्सा और उपचार से उन्हें बचा लिया गया था। इस तरह उपन्यास का अन्त होते-होते, एक बिछड़े हुए परिवार के सारे लोग मिल जाते हैं और राठू और उसके साथियों का वही हश्र होता है, जो स्वाभाविक तौर पर होना चाहिए था। राठू की तो बाक़ायदा दोनों आँखें निकाल ली जाती हैं। अच्छे कर्म करनेवाले बिछड़े हुए लोगों का मिलन और बुरे कर्मों में लिप्त लोगों के दुःखद अन्त को लेकर कहानी इस तरह समाप्त होती है—"राजमहल से राठू के वे रिश्तेदार जिन्होंने वीरसिंह की शरण चाही, निकालकर दूसरे मकान में रख दिये गये और उनके खाने-पीने का बन्दोबस्त कर दिया गया। अब राजमहल में वही सुन्दरी जो तहखाने में अन्दर क़ैद रहकर मुसीबत के दिन काटती थी और तारा जो असली करनसिंह (बाबाजी) के कब्ज़े में रहने लगी, मगर राठू के लड़के सूरज सिंह का कहीं पता न लगा, न मालूम वह किसके यहाँ भेज दिया गया था या किस जगह छिपाकर रखा गया था। रामदास ने आत्महत्या की। आँख की तकलीफ़ से से पाँच ही सात दिन में राठू यमलोक की तरफ़ चल बसा और वीरसिंह ने बड़ी नेकनामी से राज्य चलाया...।" (पृ० 94)

जैसाकि कहानी की रूपरेखा से स्पष्ट है 'वीरेन्द्र वीर अर्थात् कटोरा-भर खून' की कहानी अपने स्वामी से विश्वासघात करके राजा बन बैठनेवाले एक अत्याचारी और विलासी व्यक्ति के पतन और उसके बुरे कर्मों के बुरे फल को उदाहृत करनेवाली कहानी है। उसके अत्याचार और विलास-लीलाओं के विरोध में 'रियाआ की कुमेटी' की परिकल्पना भी उपन्यास में की गयी है, जिससे विजयसिंह डाकू नाहरसिंह के रूप में अपने साथियों एवं इसी प्रकार सताये गये अन्य लोगों को संगठित करके राठू की कारगुजारियों और षड्यन्त्रों को असफल करने की कोशिश करते हैं। निश्चय ही रियाआ की यह 'कुमेटी' सामन्ती अत्याचारों के विरोध में वास्तविक जन-संघर्ष के रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकती है। 'जन' और 'जनता' की अवधारणा ही तब कदाचित् लेखक के सम्मुख नहीं थी—कम से कम वह उस रूप में तो नहीं ही थी, जिस रूप में वह आज हमारे सामने है। 'प्रजारंजनम् राजानाम्' के अनुरूप लेखक के आगे एक आदर्श राजा की परिकल्पना यही थी कि ऐसा राजा जो प्रजा को प्रसन्न करके अपने राजा होने को सार्थक कर सके। इस परिभाषा पर खरा न उतरने या इसके विरुद्ध आचरण करनेवाले राजा का उन्मूलन और उसके स्थान पर एक ऐसे राजा की प्रतिष्ठा, जो अपनी प्रजा की इच्छाओं और भावनाओं के अनुरूप कार्य करके उसका आदर पाने में सफल हो सके। बुरे और दुराचारी राजा की आज्ञा उसके कर्मचारी मानते अवश्य हैं, लेकिन ऐसा करते

हुए उन्हें प्रसन्नता नहीं होती है और इसके विकल्प रूप में जब किसी अच्छे एवं सदाचारी व्यक्ति के राजा हो सकने की सम्भावनाएँ वे देखते हैं, तो निश्चय ही उसका साथ देते हैं—कभी-कभी तो जोखिम उठाकर भी। 'वीरेन्द्र वीर अर्थात् कटोरा-भर खून' में राठू का बूढ़ा खवीस रामदीन कहता है—"वेशक़ मैं एक अन्यायी राजा का अन्न खा रहा हूँ। लाचार हूँ, ग़रीबी जान मारती है, नहीं तो आज ही नौकरी छोड़ने को तैयार हूँ…" (पृ० 40)। एक वैकल्पिक आदर्श व्यवस्था के प्रति रामदीन का यह उत्साह तत्कालीन चिन्तन की सारी सीमाओं के बावजूद काफ़ी दूर तक लेखक के सरोकारों पर रोशनी डालता है। इसी तरह सुन्दरी जिस तहख़ाने में क़ैद है, उसमें एक दासी राठू के एक सहयोगी हरीसिंह का सिर उसी की गिरी हुई तलवार से, जब वह सुन्दरी के पति से संघर्ष कर रहा होता है, काटते हुए कहती है—"इस हरामजादे का मारा जाना ही बेहतर था, नहीं तो यह बड़ा फ़साद मचाता।" (पृ० 68)

काजर की कोठरी (1902) एक उपन्यास के रूप में, देवकीनन्दन खत्री की अन्य रचनाओं से इस अर्थ में थोड़ा भिन्न है कि इसमें लेखक वेश्या जीवन को लेकर अपना अभिमत प्रकट करता है। वेश्या जीवन उपन्यास के केन्द्र में, एक सामाजिक समस्या के रूप में नहीं है, जैसा कि आगे चलकर वह प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' में आया है, बल्कि इसमें लेखक वेश्याओं के बारे में सामान्य तौर से सोचने के तत्कालीन ढंग पर अपने को कहीं अधिक केन्द्रित करके चलता है। उसका प्रमुख आग्रह यही दिखायी देता है कि वेश्याओं के लिए आदमी का नहीं धन का महत्त्व होता है और धन के लिए उन्हें कुछ भी करने को तैयार किया जा सकता है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही, बिहार में दरभंगा के एक गाँव में जमीदार कल्याणसिंह के लड़के हरनन्दनसिंह के विवाह के उत्सव में, जो वेश्याएँ नाचने के लिए आयी हैं, उनके बारे में लेखक की टिप्पणी इस प्रकार है—"इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये रण्डियाँ बहुत ही हसीन और ख़ूबसूरत हैं और जिस समय अपना श्रृंगार करके धीरे-धीरे चलकर महफ़िल में आ खड़ी होंगी, उस समय नखरे के साध जिधर देखेंगी उधर ही चौपट करेंगी, पर फिर भी यह सब कुछ चाहे जो हो, मगर इनका जादू उन्हीं लोगों पर चलेगा जो दिल के कच्चे और भोले-भाले हैं। जो लोग दिल के मज़बूत और इनकी हरकतों तथा नक़ली मुहब्बत को जाननेवाले और बनावटी नखरों का हाल अच्छी तरह जानते हैं, उन बुद्धिमानों के दिल पर इनका असर होनेवाला नहीं है, क्योंकि ऐसे आदमी जितनी ज़्यादा ख़ूबसूरत रण्डी को देखेंगे उसे उतनी ही बड़ी चुड़ैल समझ के हर तरह से बच रहने का उद्योग करेंगे…।" (पृ०8) वेश्या को बेहद हिकारत की दृष्टि से देखते हुए उसके लिए 'रण्डी' शब्द का सम्बोधन, उसे 'चुड़ैल' मानकर 'बुद्धिमानों को उससे बचकर रखने का नैतिक आग्रह, जाहिर है, कि उस जीवन और उसकी सारी गलाज़त को लेकर एक सामा-

जिक समस्या के तौर पर विचार करने को तैयार नहीं है। रूसी लेखक अलेक्सान्द्र कुप्रिन के 'यामा' की तो बात ही अलग है। वेश्या जीवन को एक सामाजिक समस्या और चिन्ता के रूप में स्वीकार करके प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' (1918) का पूर्वाभास दे सकेने में भी लेखक पूरी तरह असफल रहता है। वेश्याओं को लेकर उपन्यास के ही दो पात्रों की टिप्पणियों से लेखक के आग्रहों और सरोकार को समझने में और भी सहायता मिल सकती है। सूरजसिंह लालसिंह से कहता है—"इस बात को तो आप भी समझते होंगे कि रण्डियाँ कैसी चालबाज़ और शैतान होती हैं तथा बड़े घरों को थोड़े ही दिनों में वर्बाद कर देने की शक्ति उनमें कितनी ज्यादा होती है...?" और इस पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाते हुए लालसिंह उत्तर देता है —"जी हाँ, मैं इन कमबख्तों की करतूतों से खूब वाकिफ़ हूँ। ऐसे ही कोई सरस्वती के कृपापात्र होते हैं, जो इनके फन्दे से अपने को बचा ले पाते हैं नहीं तो केवल लक्ष्मी के कृपापात्रों को तो ये लोग लक्ष्मी का वाहन ही बनाकर दम लेती हैं...।" (पृ० 37) कहने का मतलब यह कि धनवान परिवार के नौजवान युवकों को अपने फन्दे में फाँसकर, उनसे मनमानी दौलत हासिल करना ही उनका उद्देश्य होता है और एक बार उनके चक्कर में पड़ जाने के बाद आदमी लक्ष्मी का वाहन अर्थात् उल्लू ही बनकर रह जाता है। कदाचित् इसीलिए लेखक वेश्याओं के सम्पर्क को काजर की कोठरी में घुसने के समकक्ष ठहराता है, जिसमें घुसकर कोई बिरला ही बचे तो बचे, नहीं तो काजर की रेखा—उनके सम्पर्क की कालिमा—लगना अनिवार्य है।

'काजर की कोठरी' एक अपराध कथा के रहस्य और रोमांच से भरा उपन्यास है। सरला नामक जिस लड़की से हरनन्दनसिंह का विवाह होनेवाला था, वह लड़की यकायक, विवाह से ज़रा ही पहले, अपने घर से ग़ायब हो जाती है और उसके खून से सने कपड़ों की पोटली वहीं मिलती है जहाँ से वह ग़ायब हुई है। हरनन्दनसिंह अपने विवाह के अवसर पर आयी एक वेश्या बाँदी से आत्मीयता स्थापित करके इस सारे रहस्य का पता लगाने में प्रवृत्त होता है। सरला के इस प्रकार अचानक ग़ायब हो जाने में उसके चचेरे भाई पारसनाथ का हाथ है। सरला का विवाह हरनन्दनसिंह से न होने देकर, अपने चाचा की वसीयत के अनुसार, वह उसका विवाह कहीं और करा देना चाहता है ताकि वह आधी सम्पत्ति का मालिक बन सके। वेश्या का कोठा एक ऐसा सार्वजनिक स्थान माना जाता है जहाँ कभी भी कोई आ सकता है और अपने धन्धों की शर्तों और प्रकृति के कारण वह किसी को मना नहीं कर सकती। पारसनाथ और हरनन्दनसिंह दोनों ही बाँदी के यहाँ पहुँचते हैं। हरनन्दनसिंह तो, स्वयं अपने और सरला के पिता को विश्वास में लेकर, उसे एक स्थायी रखैल की तरह रख भी लेता है। अपनी माँ का वास्ता देकर बाँदी जिस तरह पारसनाथ से रुपये ऐंठकर उसे मूर्ख बनाती है, उस सबको

देखते हुए तो वेश्याओं के बारे में लेखक की व्यक्त की गयी टिप्पणी ही पुष्ट होती है। लेकिन हरनन्दनसिंह के साथ बाँदी का नेक और ईमानदार व्यवहार वेश्या के प्रति लेखक की धारणा पर नये सिरे से पुनर्विचार करने को प्रोत्साहित करता है। बाँदी की सहायता से ही सरला का पता चलता है और बाँदी के सारे आत्मीय सम्पर्क के बावजूद हरनन्दनसिंह बेदाग़ बना रहता है यानी काजर की कोठरी में घुसकर वह कालिख लगे बिना ही लौट आता है। उपन्यास का अन्त, बुरे कर्मों का बुरा फल वाले नैतिक आग्रह को ही नहीं दोहराता है, बल्कि उससे वेश्या के बारे में लेखक की मूल धारणा में परिवर्तन का संकेत भी मिलता है—"पारसनाथ, धरणीधर और हरिहरसिंह आदि जेल में पहुँचाये गये और हरनन्दनसिंह, सरला तथा अपने मित्रों को लिये लालसिंह अपने घर पहुँचे। उस समय उनके घर में जिस तरह खुशी हुई उसका बयान करना व्यर्थ कागज रँगना है, मगर बाज़ार में हरएक की जुबान से यही निकलता था कि अपनी रण्डी बाँदी की बदौलत हरनन्दनसिंह ने सरला का पता लगा लिया···।" (पृ० 78)

अपने अन्य उपन्यासों की तरह यहाँ भी लेखक पाठकों को सीधे सम्बोधन की रीति अपनाता है। जिस दृश्य या घटना का वह वर्णन करनेवाला होता है अपने अनुमानित पाठकों की मानसिक उपस्थिति उसे वहाँ ज़रूरी लगती है और तब वह इस प्रकार अपने वर्णन में साझीदार बनाता है—"ऐसे समय में हम अपने पाठकों को उस सड़क पर ले चलते हैं जो दरभंगे से सीधी बाजितपुर की तरफ़ गयी है।" या फिर "अब हम अपने पाठकों को एक गाँव में ले चलते हैं।" और तब वह उस स्थान विशेष पर घटित घटना या दृश्य का वर्णन शुरू कर देता है।

'काजर की कोठरी' का प्रारम्भ दरभंगा से बाजितपुर जानेवाली वेश्याओं की यात्रा से होता है, जो हरनन्दनसिंह के विवाहोत्सव पर नाचने के लिए जा रही हैं। थोड़ी देर बाद ही, हरिहरसिंह की उपस्थिति से किसी षड्यन्त्र की गन्ध मिलने लगती है और फिर थोड़ा और आगे बढ़ते ही सरला के यकायक ग़ायब हो जाने की खबर मिलती है। उपन्यास के कथा-संगठन में जिस रीति का अनुकरण किया गया है, उसमें औत्सुक्य और रहस्य के तत्त्व तो पूरी तरह बने रहते हैं, लेकिन सारे रहस्यों को अन्त में ही खोले जाने के लिए सुरक्षित रख छोड़ा जाता है। इसके कारण मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है कि कौतूहल और रहस्य के इन अनिवार्य तत्त्वों को कहानी में बुना नहीं जा सका है। वे बहुत कुछ कहानी के ऊपर आरोपित-से लगते हैं।

इन उपन्यासों के अलावा देवकीनन्दन खत्री की 'लैला मजनूं' नाम से लिखी गयी एक रचना का उल्लेख भी मिलता है जो उनके जीवनकाल में ही, सन् 1913 से पूर्व, कभी प्रकाशित हुई थी। यह कुल 41 पृष्ठों की रचना थी, जिसके उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लेखक ने लिखा था—"हिन्दी रसिकों के लिए चुन के ठीक-

ठीक वृत्तान्त लिखा।" बाद में यह रचना अनुपलब्ध हो गयी और आज सिर्फ़ उसका उल्लेख मात्र ही मिलता है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने 'नौलखा हार' और 'अनूठी बेगम' नामक देवकीनन्दन खत्री की दो अन्य रचनाओं का भी उल्लेख किया है। लेकिन ये रचनाएँ भी परवर्ती आलोचकों एवं शोधकर्ताओं को उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। कुछ अन्य लोगों ने भी इस बात का उल्लेख किया है। 'गुप्त गोदना' नामक एक ऐतिहासिक रोमांस की शुरुआत भी देवकीनन्दन खत्री ने की थी, उसका एक भाग उनका लिखा प्रकाशित भी हुआ था, लेकिन अपनी असामयिक मृत्यु के कारण वह उसे पूरा नहीं कर सके और बाद में उन ऐतिहासिक रोमांसों के तत्का-लीन लेखक किशोरीलाल गोस्वामी ने इसे पूर्ण किया था। इसी तरह 'सौदागर' नामक एक उपन्यास का उल्लेख भी कहीं-कहीं मिलता है, जिसके बारे में बताया जाता है कि उसके केवल दो फार्म ही मुद्रित हुए थे।...

4
योगदान

एक उपन्यासकार के रूप में देवकीनन्दन खत्री की सवसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने उपन्यास के वारे में प्रचलित धारणा में एक तात्त्विक और आधारभूत अन्तर उपस्थित किया। अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी में जितने विशाल पाठक-वर्ग का निर्माण उन्होंने अकेले किया, उतना उनके युग के अन्य सारे उपन्यासकार मिलकर भी कदाचित् नहीं कर सके थे। उपन्यास की धारणा में परिवर्तन वाले मुद्दे पर उनको एक दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ी। एक ओर उनकी यह लड़ाई उन रूढ़िवादियों से थी जो उपन्यास के पढ़े जाने को ही ग़लत समझते थे और अपने परिवार के किशोर-किशोरियों को उसी प्रकार उपन्यास के कल्पित दुष्प्रभावों से दूर रखने की कोशिश करते थे, जैसे आजकल किसी संक्रामक रोग से पीड़ित रोगी को एकदम अलग रखने के डॉक्टरी आदेश का सख्ती से पालन किया जाता है। कभी-कभार वे स्वयं उपन्यास भले ही पढ़ लेते हों, लेकिन नौ-उम्र लोगों के लिए इसकी पूरी तरह से मनाही थी। पुराने संस्कारों एवं रूढ़ियों में वँधे ऐसे लोगों से देवकीनन्दन खत्री का विरोध उपन्यास के सामान्य पाठक-वर्ग के निर्माण में एक अवरोधक तत्त्व के रूप में ही नहीं था, बल्कि साहित्य में भी ऐसे आलोचक और सम्पादक मौजूद थे, जो उपन्यास को समाज के नैतिक स्वास्थ्य के लिए हानिकर समझकर उसका विरोध करते थे। दूसरी ओर भारतेन्दु-युग में समाज सुधार के प्रति अतिशय आग्रहशील जो रूखे-सूखे उपदेश-प्रधान उपन्यास छप रहे थे उनसे भी उनका मौलिक विरोध था। ऐसे ही उपन्यासों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा था—"धर्म व नीति और वस्तु है और काव्य व साहित्य अन्य वस्तु है। यद्यपि हम चाहते हैं कि हमारा हिन्दी साहित्य धर्मशास्त्रानुमोदित हो, हिन्दी में कालिदास और दण्डी जैसे महाकवियों का आविर्भाव हो, पर दुःख यही है कि वैसा क्षमताशाली होना प्रत्येक के लिए सम्भव नहीं है। हमारे जिन मित्रों ने उपन्यासादि की शैली पर 'परीक्षागुरु'

के समान उपेक्षापूर्ण आख्यायिका लिखनी प्रारम्भ की है, उसकी रुचि का हम आदर करते हैं, किन्तु काव्य-विचार से हमें यही कहना पड़ता है कि निर्जीव शरीर का श्रृंगार हो रहा है। 'गणेशं कुर्वाणोवानरंचकार' की कहावत चरितार्थ हो रही है। यदि उपदेश ही ग्रहण करना है तो आधुनिक लेखक की निर्जीव आख्यायिका का पाठ करने की जगह रामायण, गीता आदि धर्मपुस्तकों का ही अवलोकन करना चाहिए···' निश्चय ही देवकीनन्दन खत्री के इस वक्तव्य से सामाजिक चिन्ता के प्रति लेखक की उदासीनता के समर्थन की गन्ध आती है। लेकिन इससे उपन्यास के बारे में उनकी अपनी धारणा भी स्पष्ट हो जाती है। उपन्यास के रूप में उनके आगे गद्य में लिखी गयी एक ऐसी कहानी की परिकल्पना थी जिसे पाठक गहरी दिलचस्पी के साथ पढ़ सकें और जिसका नैतिक प्रभाव उनके चरित्र पर बुरा न पड़े। यह थोड़ा विरोधाभासपूर्ण लग सकता है कि उपन्यास में सामाजिक सोद्देश्यता का विरोध करनेवाला लेखक अपनी रचनाओं के नैतिक प्रभाव को लेकर इस हद तक सचेत हो। लेकिन सही परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह विरोधाभास जैसा कुछ नहीं रह जाता है। देवकीनन्दन खत्री, एक रचना के तौर पर उपन्यास में, सामाजिक या सांस्कृतिक चिन्ता के उतने विरोधी नहीं हैं, जितने कि वह उपन्यास की रोचकता की क़ीमत पर इनकी अकारण घुसपैठ के विरोधी हैं। उनके आगे पाठक को गहराई से बाँधनेवाली पकड़ ही उनकी एकमात्र ऐसी कसौटी थी, जिस पर खरा उतरने पर किसी उपन्यासकार और उसकी रचना को सफल मानने की सिफारिश की जा सकती थी। जैसा कि पिछले अध्याय में संकेत किया जा चुका है, कथानक और पात्रों के अलावा भी, एक उपन्यासकार की हैसियत से, वह उन सारे उपकरणों का बड़ी दूर तक कुशल उपयोग करने में सफल होते हैं, जिनसे किसी रचना की पकड़ को असाधारण रूप से गहरा बनाया जा सकना सम्भव होता है।···

देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में, विशेषकर 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' ने एक विशाल पाठक-वर्ग का निर्माण कितनी तेज़ी के साथ किया और उनका कैसा संक्रामक प्रभाव था, इसके लिए दो-एक उदाहरण ही काफी होने चाहिए। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने, जो महावीरप्रसाद द्विवेदी के बाद 'सरस्वती' के सम्पादक हुए, उस प्रभाव को लेकर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"वह चन्द्रकान्ता का युग था।···वर्तमान युग के पाठक उस युग की कल्पना नहीं कर सकते, जब देवकीनन्दन खत्री के मोहजाल में पड़कर हम लोग सचमुच निद्रा और क्षुधा छोड़ बैठे थे। मैं बिल्कुल छोटा था, पर यह बात किसी भी प्रकार नहीं स्वीकार कर सकता था कि मैं 'भैरोंसिह नहीं बन सकता। मेरे सहायक थे गजराज-बाबू। वे मुझसे कहीं बड़े थे। हाईस्कूल की ऊँची कक्षा में पढ़ते थे, पर वे भी स्कूल छोड़कर लखलखा की खोज में निकल जाते थे। उन दिनों हमलोग ऐसे ही फूलों की खोज में निकलते थे, जिन पर कोई दृष्टिपात तक नहीं करता था। हमें विश्वास था

कि विश्व से अनादृत, उपेक्षित और तिरस्कृत कोई फूल किसी ऐसे ही स्थान में खिल रहा है। उसमें एक ऐसी अलौकिक शक्ति विद्यमान है जो मृत-प्राय मनुष्यों में नवजीवन संचार कर सकती है। हम लोग छोटे-छोटे, रंग-रँग के फूल खोज-खोजकर लाया करते थे। कितने ही लोग हमारे उस काम की हँसी उड़ाया करते थे। कितने ही लोग हमारे इस काम को तिरस्कृत किया करते थे, पर हम लोगों ने उपहास और निन्दा की परवाह न की। हमें इन नाम-गोत्रहीन फूलों से चाह हो गयी थी।···कौन जाने कब किस फूल से कोई 'जगन्नाथ' किसी 'वीरेन्द्रसिंह' को नवजीवन शक्ति प्रदान कर दे। इसी प्रकार तिलस्म की खोज में हम टूटे-फूटे खँड़हरों में घूमा करते थे। यदि अकस्मात् वहाँ कभी किसी बुढ़िया से भेंट हो जाती तो हम लोग सोचते, कौन जाने बुढ़िया के रूप में वही 'कमला' या 'मायारानी' हो? किसी बुड्ढे को एकान्त में बैठे हुए देखकर हमलोग चौंक पड़ते थे। हमलोग छिप कर बड़े ग़ौर से देखते। कौन जाने छद्म वेश में वह कोई भूतनाथ हो।···"

इसी क्रम में आगे चलकर लेखक लिखता है—"मैं चन्द्रकान्ता के मायाजगत् में खूब घूम चुका हूँ। उसके पहाड़ों और जंगलों में उसके पात्रों के साथ अच्छी तरह भ्रमण कर चुका हूँ। उनका चित्र अभी तक मेरे हृदय में अंकित हैं। बाल्यकाल में, जब मैं अकेला रात के समय अपने बिस्तर पर लेट जाता था तब अपने कल्पना जगत में उन्हीं स्थानों पर चला जाता था। उस समय मैं उन पात्रों के साथ मिल-कर अपनी ओर से भी कितने ही कार्य किया करता था। कल्पना के उस प्रवाह में मैं इतना लीन हो जाता था कि कब मुझे नींद आ जाती, यह मैं नहीं जान पाता था कभी-कभी स्वप्न में भी उसी जगत के दृश्य देखा करता था। चुनार कहाँ है, गया और रोहतासगढ़ किधर है, इनकी भौगोलिक स्थिति और ऐतिहासिक विवरण से मुझे कोई प्रयोजन नहीं था। मैं तो वह स्वीकार कर चुका था कि चुनार से थोड़ी ही दूर लम्बा-चौड़ा घना जंगल है, वह सैकड़ों कोस चला गया है। उसमें बड़े-बड़े पहाड़, घाटियाँ, दर्रे और खोह, पहाड़ों पर टूटे-फूटे आलीशान क़िले हैं। वे क़िले अपने चारों तरफ़ से ऊँचे पहाड़ों के बीच में ऐसे छिपे और दबे हुए हैं, कि एकाएक किसी का वहाँ पहुँचना और पता लगाना मुश्किल है। उन्हीं स्थानों में पहाड़ियों के बीच आलीशान इमारतें बनी हुई हैं।···मैं ऐसे भवनों में रह चुका हूँ और चन्द्रकान्ता सन्तति के पात्रों के साथ उन तरुणियों से भी परिचित ही चुका हूँ, जिनकी सौन्दर्य-छटा से वे भवन सदा प्रदीप्त होते थे। रात के समय में भी रोहतास गढ़ के जंगलों में घूम चुका हूँ। वे बड़े घने थे। उनमें शीशम, साखू, साल आदि बड़े-बड़े पेड़ों की घनी छाया से दिन में भी अन्धकार बना रहता था, रात की तो बात ही दूसरी थी। कहीं-कहीं छोटे-छोटे पेड़ों के बदौलत जंगल इतना घना रहता था कि उसमें भूले हुए आदमियों को मुश्किल से छुटकारा मिलता था। उसमें हजारों आदमी इस तरह छिप सकते थे कि हज़ार सिर पटकने और खोजने पर भी उनका पता लगाना

असम्भव था। मैं विचित्र सुरंगों के भीतर प्रविष्ट हो चुका हूँ और तिलस्म के भीतर जा चुका हूँ और उसे तोड़ भी चुका हूँ।···" यह उद्धरण थोड़ा लम्बा भले ही हो गया हो, लेकिन देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों के असाधारण और संक्रामक प्रभाव की ओर, और किसी तरह, इतने सम्पूर्ण रूप में, प्रकाश डाल पाना लगभग असम्भव होता।

देवकीनन्दन खत्री के अपने समय में और उसके कई दशक बाद तक, उनके पाठक प्रायः हर वर्ग के लोग थे। रोज़मर्रा के संघर्ष और चिन्ता से मुक्त, असीमित अवकाश की सुविधावाले सामन्तों और ज़मींदारों के साथ ही साधारण अक्षरज्ञान वाले किसान-मज़दूर तक उसके असंख्य पाठकों का दायरा फैला हुआ था। यद्यपि वह बहुत लम्बी उम्र तक जीवित नहीं रह सके, लेकिन वह अपने युग के अकेले लेखक थे जो किसी सम्राट् के गौरवपूर्ण विजय अभियानों की तरह अपने पाठकों का दायरा निरन्तर बढ़ता देखने का सुख हासिल कर सके थे। उस समय साक्षरता का जो प्रतिशत था उसकी ओर प्रथम अध्याय में ही संकेत किया जा चुका है। तब न तो आज की तरह पढ़ने का रिवाज़ ही था और न ही वैसी सुविधाएँ प्राप्त थीं। पढ़ने-लिखने की सामान्य सुविधाओं के वीच रहनेवाला आज का पाठक उन कठिन स्थितियों की कल्पना भी मुश्किल से कर सकता है, जिनके बीच तब लोग, सरसों के तेल के दीये या कुप्पी और लालटेन की रोशनी में, अपने अस्तित्व की ओर से लगभग वेखबर होकर 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के तिलस्मी संसार में रमे रहते थे। जो लोग लिख-पढ़ नहीं सकते थे वे भी इन पुस्तकों की असाधारण लोकप्रियता सुन-सुनकर इनके कथानक और पात्रों के बारे में जान चुके थे। प्राच्य साहित्य और संस्कृति के मर्मज्ञ प्रख्यात रूसी भाषाविद् वारान्निकोव ने ठीक ही लिखा है"···लेकिन बाबू देवकीनन्दन की सुकृति यहीं तक सीमित नहीं है कि उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य के पाठकों की संख्या को बढ़ाया। उनकी खूबी इसमें भी है कि इन्होंने हिन्दी साहित्य के मनोरंजक, घटना-प्रधान उपन्यासों की परम्परा की नींव डाली। इनकी सुकृति इसमें भी है कि अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा उन्होंने अनेक भारतवासियों को साहित्यिक क्षेत्र की ओर मोड़ा और उनमें लेखक होने की इच्छा जाग्रत् की।···" निःसन्देह हिन्दी के वहुत-से ऐसे लेखकों के नाम अनायास ही लिये जा सकते हैं, जो देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों को पढ़कर ही लेखक बने। बहुत-से ऐसे लोग जो उर्दू-फ़ारसी के नियमित पाठक थे उनकी रचनाओं को पढ़ सकने के लिए ही हिन्दी सीखकर, हिन्दी के तेज़ी से विकसित होनेवाले पाठक वर्ग का एक भाग बन गये।

हिन्दी भाषा के विकास की दिशा में, देवकीनन्दन खत्री ने, अपने उपन्यासों द्वारा, जो कुछ किया वह किसी एक संस्था के लिए भी कुछ ज्यादा ही था—खास तौर से उस समय की परिस्थितियों के सन्दर्भ में। उनके भाषा सम्बन्धी आदर्श

उनके इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाते हैं—"किसी दार्शनिक ग्रन्थ या पत्र की भाषा के लिए यदि किसी बड़े कोष को टटोलना पड़े तो कुछ परवाह नहीं, परन्तु साधारण विषयों के लिए भी कोष को टटोलना पड़े तो निःसन्देह दोष की बात है। मेरी हिन्दी किस श्रेणी की हिन्दी है इसका निर्धारण मैं नहीं करता, परन्तु मैं यह जानता हूँ कि इसके पढ़ने के लिए कोष की तलाश नहीं करनी पड़ती···।"

पिछले अध्यायों में देवकीनन्दन खत्री की रचनाओं से जो उद्धरण जगह-जगह पर दिये गये हैं, उनसे व्यवहार के स्तर पर भी उनके इस भाषिक आदर्श की पुष्टि होती है। भाषा के इस मोर्चे पर भी उनकी लड़ाई दोहरी थी। एक ओर यदि वह भारतेन्दु-युग के उन लेखकों से सहमत नहीं थे, जो छाँट-छाँटकर उर्दू शब्दों का बहिष्कार करके संस्कृत शब्दों को भरमार से भाषा को मृत-प्राय और बोझिल बना रहे थे तो दूसरी ओर वह राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' के प्रशंसक और उनके भाषिक आदर्श से बहुत कुछ सहमत होते हुए भी व्यवहार के स्तर पर, उनकी फारसी बहुल उर्दू से अपने को बचाकर एक नया रास्ता निकालने के संघर्ष में लगे दिखायी देते हैं। एक बहुत बड़ी संख्या में उर्दू-फारसी के जो पाठक, उनकी रचनाओं द्वारा, हिन्दी की ओर चले आये, थोड़ी-सी भी भाषिक कट्टरता की नीति अपनाने पर यह सम्भव हो सकता था। वह कदाचित् हिन्दी के पहले लेखक हैं जो प्रयोग और व्यवहार के स्तर पर भाषा को लेकर इतने सचेत दिखायी देते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में भाषा का एक क्रमिक विकास स्पष्ट दिखायी देता है। 'चन्द्रकान्ता' की जो भाषा है 'चन्द्रकाता सन्तति' और 'भूतनाथ' (अपूर्ण) की वही भाषा नहीं है। जैसे-जैसे हिन्दी का नवोदित पाठकवर्ग उसके लिए मानसिक रूप से तैयार होता चलता है, उनकी भाषा का स्वरूप और तेवर बदलते चलते हैं। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा—" 'चन्द्रकान्ता' और 'सन्तति' में यद्यपि इस बात का पता नहीं लगेगा कि कब और कहाँ भाषा का परिवर्तम हो गया, परन्तु उसके आरम्भ और अन्त में आप ठीक वैसा ही परिवर्तन पायेंगे जैसा बालक और वृद्ध में। एकदम से बहुत-से शब्दों का प्रचार करते तो कभी सम्भव न था कि उतने संस्कृत शब्द हम उन कुपढ़ ग्रामीण लोगों को याद करा देते जिनके निकट काला अक्षर भैंस बराबर था। मेरे इस कर्तव्य का आश्चर्यमय फल देखकर वे लोग भी बोधगम्य उर्दू के शब्दों को अपनी विशुद्ध हिन्दी में लाने लगे हैं जो आरम्भ में इसीलिए मुझ पर कटाक्षपात करते थे।···"

भारतेन्दु-युग में, भाषा के सवाल पर, हिन्दी साहित्यकार दो परस्पर विरोधी समझे जानेवाले शिविरों में बँटे हुए थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और उनके समर्थकों की भाषा का 'राजा शिव प्रसादी हिन्दी' कहकर मज़ाक उड़ाते थे। दूसरी ओर, साहित्यकार इन लेखकों, भारतेन्दु और उनके समर्थक लेखकों, की संस्कृत बहुल हिन्दी को कृत्रिम, अस्वाभा-

विक और अननुकरणीय समझकर, उनका तिरस्कार करते थे। देवकीनन्दन खत्री सैद्धान्तिक रूप से राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द से सहमत जरूर थे, लेकिन व्यवहार के स्तर पर उनकी अरबी-फ़ारसी बहुल उर्दू को, जो लिखी अलबत्ता नागरी लिपि में जाती थी, कभी भी अपना आदर्श मानकर नहीं चलते हैं। कैसी भी भाषिक कट्टरता और हठधर्मी को छोड़कर इन्होंने भाषा के स्वस्थ और वैज्ञानिक विकास की पद्धति अपनायी। इस मामले में उनका आदर्श बाङ्ला के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे, जो सीधे-सादे शब्दों वाली बाङ्ला लिखकर उन जैसे लेखकों के लिए पहले से रास्ता खोल चुके थे। भाषा के मोर्चे पर देवकीनन्दन खत्री की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि ऊपरी तौर पर दो परस्पर विरोधी दिखायी देनेवाले रास्तों को उन्होंने अपने मानसिक आदर्श और व्यवहार के द्वारा एक कर दिया और इस तरह स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समर्थक जो काम नहीं कर सके, वह अकेले उन्होंने करके दिखा दिया। उन्होंने हिन्दी को लगभग वहीं से उठाया, जिसे लोग तिरस्कार भाव से 'राजाशिवप्रसादी हिन्दी' कहते थे। लेकिन उसके लिए निरन्तर संघर्षशील और सचेत रहकर उसे लगभग वहीं पर पहुँचा दिया जो स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समर्थकों का आदर्श था। भाषिक कट्टरता और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण के कारण उनके लिए जो काम मुश्किल हो रहा था, अपने ढंग से देवकीनंदन खत्री ने उसी को सम्भव और सरल करके दिखा दिया। इस बारे में स्वयं उनकी अपनी टिप्पणी है'''यदि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर सीधे-सादे शब्दों में बाङ्ला में काम न लेते तो उत्तरकाल के लेखकों को संस्कृत शब्दों के बाहुल्य प्रचार का अवसर न मिलता और यदि 'राजा शिवप्रसादी हिन्दी' प्रकट न होती तो सरकारी पाठशालाओं में हिन्दी के चन्द्रमा की चाँदनी मुश्किल से पहुँचती। मेरे बहुत-से मित्र हिन्दुओं की अकृतज्ञता का यों वर्णन करते हैं कि उन्होंने हरिश्चन्द्रजी जैसे देशहितैषी पुरुष की उत्तम पुस्तकें नहीं खरीदी, पर मैं कहता हूँ कि यदि बाबू हरिश्चन्द्र अपनी भाषा को थोड़ा सरल करते तो हमारे भाइयों को अपने समाज पर कलंक लगाने की आवश्यकता न पड़ती और स्वाभाविक शब्दों के मेल से हिन्दी की पैसेंजर भी मेल बन जाती। प्रवाह के विरुद्ध चलकर यदि कोई कृतिकार हो तो निःसन्देह उसकी बहादुरी है, परन्तु बड़े-बड़े दार्शनिक पण्डितों ने इसको सम्भव ठहराया है! इसीलिए प्रवाह के विरुद्ध न चलकर ऐसी सहज और स्वाभाविक भाषा का आदर्श उन्होंने अपने सामने रखा जो हिन्दी और उर्दू के आरोपित भेद से अपने को बचाकर आम जनता की एक साधारण भाषा थी। कुल मिलाकर, यह एक ऐसी भाषा थी जिसे आगे चलकर 'हिन्दुस्तानी' के आन्दोलन काल में, महात्मा गाँधी तक को एक आदर्श भाषा के रूप में स्वीकार करने में किसी प्रकार की कोई आपत्ति न थी।

जिस भाषिक आदर्श को बड़े सचेत भाव से देवकीनन्दन खत्री ने अपनाया व्यव-

हार के स्तर पर उसे प्रमाणित करने के लिये उनकी रचनाओं में से कुछ उदाहरण जुटाना उचित होगा। 'चन्द्रकान्ता' के हिंदू पात्र भी अधिकांश में फ़ारसी बहुल उर्दू का प्रयोग करते हैं। यह अलग बात है कि शब्दों का चयन और प्रयोग कुछ इस प्रकार किया गया है कि आम पाठक को उसे समझना मुश्किल नहीं होता है। उस समय के उर्दू-फ़ारसी के अभ्यस्त पाठकों के लिये कदाचित् वही एक सरल और स्वाभाविक भाषा भी रही हो। लेकिन 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में यह अनुपात बदल जाता है। यहाँ आते-आते मुस्लिम पात्र भी तत्सम शब्दों का इस्तेमाल करने लगते हैं। पात्रानुकूल भाषा के आदर्श की भी बहुत चिंता जैसे लेखक को नहीं है। भूतनाथ से बात करते हुए शेरअली खाँ जिस भाषा का इस्तेमाल करता है वह यह है, - "ठीक है, बेशक ऐसा ही होगा, तो अब विलम्ब करना उचित नहीं है, चलिए और जल्दी चलिए···" (भाग 14, पृ० 31)

'भूतनाथ' के पहले भाग के ही प्रथम दो अध्यायों से, सहज ही उठा लिये गये कुछ शब्द ये हैं—भयानक, रात्रि, व्यर्थ, अस्तु, तथापि, प्रशस्त, पक्षपाती, धर्मात्मा, विचित्र, प्रलापावस्था, आश्चर्य, कदाचित्, दुखान्त, पुनः, कृतज्ञ, परिचय, निसंदेह, कदापि, यद्यपि आदि। इन शब्दों को देखकर क्या यह प्रमाणित करना मुश्किल है कि एक लेखक के रूप में, भाषा के विकास को लेकर, उनका उद्देश्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समर्थकों से बहुत भिन्न नहीं है, उनका रास्ता अलबत्ता थोड़ा अलग है? 'भूतनाथ' के तीसरे ही भाग में काशी के लोगों की बोली, उनके व्यवहार और मस्ती का अंकन, भाषा की जिस सहज और यथार्थ भंगिमा के साथ हुआ है उस सबसे निश्चय ही नयी संभावनाओं का संकेत मिलने लगता है। हो सकता है, कुछ लोगों को आज भी यह आश्चर्यजनक लगे, लेकिन यह सच है कि यदि देवकीनन्दन खत्री इतने विशाल पाठक वर्ग का निर्माण न कर चुके होते, उपन्यास को लेकर आम लोगों की धारणा में उनके द्वारा यदि एक क्रांतिकारी परिवर्तन घटित न हुआ होता और भाषा का एक सहज और समतल रास्ता उन्होंने न निकाल लिया होता, तो आगे आनेवाले वर्षों में प्रेमचन्द का काम अपेक्षाकृत बहुत मुश्किल हुआ होता। यह भी मुमकिन है कि इन सारे मुद्दों पर संघर्ष से उनकी रचनाशीलता प्रभावित होती और तब उस दिशा में उतना कुछ करने का अवसर उन्हें न मिला होता, जितना कि इसके बाद वह अनायास ही उन्हें मिल सका।

परवर्ती हिंदी उपन्यास के लिये देवकीनन्दन खत्री की एक और देन उनकी क़िस्सागोई की परम्परा थी, जिसका समृद्ध और सुसंबद्ध विकास प्रेमचन्द से लेकर कितने ही आधुनिक लेखकों तक देखा जा सकता है। देवकीनन्दन खत्री के प्रमुख उपन्यास कितने ही भागों में चलते हैं और इस पर भी अगले उपन्यास का कथासूत्र, अनिवार्य रूप से, पिछले उपन्यास से जुड़ा रहता है। रहस्य और कौतूहल के तत्त्वों के सहारे इतनी दूर तक कहानी का ताना-बाना फैलाकर फिर इस तरह समेटना कि

न तो कथा का कोई सूत्र ही टूटने पाये और न ही वर्णित रहस्य की गोपनीयता को लेकर कोई सुनिश्चित धारणा बना सकने की ही छूट मिल सके, अपने में एक अद्भुत चमत्कार जैसा ही है। अपनी कहानी की मूलकथा, एक लेखक के रूप में, वह स्वयं कहते हैं और कहानी की गति बढ़ने के साथ ही जाने कितने नये व्यक्ति और उनसे सम्बन्धित कथासूत्र उस मूलधारा से जुड़कर उस प्रवाह में शामिल होते चलते हैं। कितने ही लोग तिलस्म में क़ैद रहने के बाद छूटकर अपने आत्मीय सम्बन्धियों और परिवारजनों से मिलते हैं और उनका क़िस्सा, एक के बाद एक, चलता रहता है। कभी वे स्वयं आपबीती के रूप में अपना क़िस्सा बयान करते हैं और कभी लेखक अपनी ओर से उसे बयान करता है। एक लेखक की हैसियत से देवकीनन्दन खत्री को कोई ऐसा भ्रम नहीं है कि वे आधुनिक शैली का यथार्थवादी उपन्यास लिख रहे हैं। यह अलग बात है कि उनके कितने ही पात्र और उनसे सम्बद्ध स्थान भी हमें बड़े आत्मीय लगने लगते हैं, लेकिन लेखक का जोर न तो अपने पात्रों को लेकर है और न ही उनके परिवेश और वातावरण को लेकर। उनका सारा जोर कहानी के ऊपर है जिसे स्वयं ही वह 'किस्सा' कहना पसंद करता है। इसमें किसी क़िस्म
के ऊपर है जिसे स्वयं ही वह 'किस्सा' कहना पसंद करता है। इसमें किसी क़िस्म
की कोई अतिरिक्त विनम्रता भी नहीं है। बिना किसी छद्म और ढोंग के वह अपनी रचना के सही परिचय के लिये उसी लेबुल का इस्तेमाल करता है अन्दर की सार-वस्तु का संकेत देने के लिये जिसकी ज़रूरत है। अपने इन असाधारण रूप से लम्बे क़िस्सों को, अलग-अलग अध्यायों में बाँटनेवाले विभाजन को वह स्वयं ही 'बयान' कहता है। और इस तरह स्पष्ट कर देता है कि एक लेखक की हैसियत से उसका प्रमुख—किसी हद तक एकमात्र—सरोकार अपने किस्से को बयान करना ही है। इसके अलावा जो कुछ भी उसमें मिलता है वह सब घेलुये में मिली चीज़ है। लेकिन यह अलग बात है कि कभी-कभी घेलुये में मिली चीज ही मूल-वस्तु से अधिक महत्त्वपूर्ण लगने लगती है।...परवर्ती उपन्यास में प्रेमचन्द पहले लेखक थे जिन्होंने क़िस्सागोई की इस परम्परा में एक आधारभूत और रासायनिक परिवर्तन उपस्थित किया। उन्होंने किस्सागोई की इस मनोरंजन-धर्मी परम्परा को सामाजिक सोद्देश्यता से जोड़ा और इस नयी दिशा में चरम सीमा तक उसका विकास किया। अपने कथानक के केन्द्र में चरित्र को रखकर और उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्रमात्र' कहकर पारिभाषित करने की उनकी कोशिश वस्तुतः इस परम्परा का विरोध न होकर उसका विकास ही है।

वास्तविक ऐतिहासिक संदर्भ में देवकीनन्दन खत्री के महत्त्व को समझने के लिये यह ज़रूरी है कि इस तथ्य पर पर्याप्त बल दिया जाये कि पहले से ही चली आती, भले ही उसकी शुरुआत कुछ ही वर्ष पहले हुई हो, किसी कथा-धारा से जुड़ने के बदले उन्होंने एक नई धारा की शुरूआत की और अपने अनतिदीर्घ जीवनकाल

में ही इस हद तक उसकी संभावनाओं का दोहन किया कि दूसरों के लिये उस दिशा में कुछ कर सकने की जैसे कोई गुंजाइश न रह गयी हो। तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास उनके कितने ही समकालीन लेखक भी लिख रहे थे और उनके परवर्ती लेखकों ने भी उस क्षेत्र में कुछ-न-कुछ किया ही। लेकिन सवाल यह है कि इनमें से कितने लोग हैं जिनकी रचनाएँ काल-प्रवाह को उलाँघकर हम तक आ सकी हैं? हरे कृष्ण जौहर और निहालचंद वर्मा जैसे लेखकों का नाम भी कितने लोगों ने सुन रखा है, उनकी रचनाओं से परिचित होने की तो बात ही अलग है?

इस तथ्य की ओर भी यथास्थान संकेत किया गया है कि देवकीनन्दन खत्री की रचनाओं में वैज्ञानिक कथा-साहित्य के तत्व मौजूद हैं, लेकिन उनकी संभावनाओं का समुचित उपयोग न तो वह स्वयं कर सके और न ही परवर्ती लेखकों ने ही उस ओर कोई ध्यान दिया। उनकी कृतियों का विश्लेषण करते हुए यथासंभव इस ओर संकेत किया जा चुका है कि उनके उपन्यासों में वर्णित विभिन्न यंत्र और उपकरण किस तरह विज्ञान की परवर्ती खोजों के मेल में ठहरते हैं। भले ही इस आधार पर उनकी रचनाओं को जूल्स वर्न्स और एच. जी. वेल्स की रचनाओं के समकक्ष न ठहराया जा सके, लेकिन उसकी संभावनाओं को ही नकार देना अनुचित होगा।

डा. सम्पूर्णानन्द ने उन कारणों की ओर संकेत किया है जो देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों को वैज्ञानिक कथा-साहित्य की कोटि में आने से रोकते हैं। उनकी मूल आपत्ति यह है कि देवकीनन्दन खत्री के पास उन वैज्ञानिक तथ्यों का अभाव है जिसके कारण कोई रचना वैज्ञानिक कथा-साहित्य की कोटि में आती है। डॉ. सम्पूर्णानन्द लिखते हैं, 'देवकीनन्दन जी ने अपने उपन्यासों में वैज्ञानिक ढंग की बातों का उसी प्रकार और उसी ढंग से उपयोग किया है, जो रसोत्पादन के इच्छुक कवि के सामने उद्दीपन विभाव से काम लेते समय रहती हैं। मुख्य वस्तु तो आलंबन है। तिलस्म, तिलस्मी खंजर, तिलस्मी, पुतले यह सब निकाल दिये जायें तब भी अमुक कुमार का अमुक कुमारी से विवाह हो जाता, छिपा धन हाथ लग जाता और भूतनाथ की ऐयारी अपना काम कर जाती।'''इस मामले में डॉ. सम्पूर्णानन्द से सिर्फ आंशिक रूप ही सहमत हुआ जा सकता है। यह कहना एकदम ठीक है कि देवकीनन्दन खत्री में एक वैज्ञानिक की तथ्यप्ररकता और अपेक्षित अनुशासन का अभाव है। तथ्यपरकता की जगह सब कहीं उनमें एक रोमानी और कल्पना प्रसूत सृष्टि का आग्रह स्पष्ट है। तिलिस्म, तिलिस्मी खंजर ओर तिलिस्मी पुतलों आदि के अलावा भी इन उपन्यासों में बहुत कुछ है, जिसकी और यथास्थान संकेत किया भी गया है, जिनमें वैज्ञानिक कथा-साहित्य की संभावनाओं की तलाश निश्चय ही तथ्यों को विकृत या अतिरंजित करके देखना नहीं कहा जा सकता। देवकीनन्दन खत्री के पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने अपनी रचनाओं 'लाल पंजा', 'प्रतिशोध', 'रक्त-मंडल' और 'सफ़ेद शैतान' में अपने पिता की इस परम्परा को विकसित करने की

कोशिश अवश्य की, लेकिन उनका आग्रह भी वैज्ञानिक तथ्यपरकता का न होकर विज्ञान के रोमानीकरण का ही अधिक है। ब्रिटिश सरकार ने 'रक्तमंडल' को भले ही इसलिये ज़ब्त कर लिया हो, क्योंकि उसके क्रांतिकारी विज्ञान की सहायता से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विनाश की कोशिशों में संलग्न है, लेकिन एक वैज्ञानिक उपन्यास के रूप में उसका महत्त्व निश्चय ही संदिग्ध है।···

अपनी समकालीन और परवर्ती पीढ़ियों पर देवकीनन्दन खत्री के प्रभाव की चर्चा लोगों ने की अवश्य है, लेकिन अलग-अलग लेखकों पर उनके प्रभाव के किसी वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन का प्रायः अभाव ही रहा है। यहाँ भी इसके लिए विशेष गुंजाइश नहीं है। प्रेमचन्द और इलाचन्द्र जोशी जैसे लेखकों पर उनके प्रभाव और दाय का संकेत यथाप्रसंग किया जा चुका है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी गयी रचनाओं में रहस्य और कौतूहल का समावेश, कूटनीतिक चालें और अपने पात्रों के वास्तविक परिचय को गुप्त रखने के लिये नकावों आदि का उपयोग जयशंकर प्रसाद की 'इरावती' और चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू' जैसी रचनाओं में भी देखा जा सकता है। शिकार के दृश्य और सम्बद्ध अंचल की प्रकृति के कवि सुलभ वर्णनों की दृष्टि से वृन्दावनलाल वर्मा से ऐतिहासिक उपन्यास उनसे बहुत कुछ लेते दिखाई देते हैं। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में जैसे भूतनाथ की कहानी के अन्दर नागर की कहानी चलती है, इसी तरह कहानी के इस दोहरे उपयोग का कौशल और भी विकसित रूप में अमृतलाल नागर के उपन्यास 'अमृत और विष' में दिखाई देता है। लेकिन ये महज़ कुछ संकेत भर हैं, जिनसे इस दिशा में काम हो सकने की सम्भावना का पता अवश्य चल जाता है।···

5

प्रासंगिकता का सवाल

प्रासंकिगता का सवाल अनिवार्य रूप से लेखक की वैचारिकता से जुड़ा होता है। किसी लेखक को उसकी वैचारिकता से अलग करके इस दृष्टि से वस्तुतः उस पर विचार किया ही नहीं जा सकता। एक युग में सक्रिय किसी लेखक की स्थिति आगे आने वाले किसी युग में परिवर्तित वैचारिक आग्रहों और उनसे प्रभावित मूल्यांकन के प्रतिमानों के कारण पूरी तरह बदल भी सकती है। टेनीसन विक्टोरियन युग के प्रतिनिधि कवि माने जाकर लम्बे समय तक आदर पाते रहे, जबकि उनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कवि ब्राउनिंग प्रायः उपेक्षित रहे। लेकिन कविता में ज्यों-ज्यों विचारों का आग्रह बढ़ता गया और रूपवादी रुझानों की सक्रियता थोड़ी कम हुई। वैसे ही इन दोनों कवियों की पारस्परिक स्थिति में, उनके महत्त्व के अनुपात में, एक गुणात्मक अन्तर भी घटित हुआ। यही कारण है कि आज टेनीसन जहाँ बहुत कुछ अप्रासंगिक हो गये हैं, ब्राउनिंग की प्रासंगिकता क्रमशः बढ़ी है। आधुनिक हिन्दी कविता में लगभग यही स्थिति अज्ञेय और मुक्तिबोध को लेकर रही है। जब हम किसी लेखक की प्रासंगिकता का सवाल उठाते हैं, तो अनिवार्य रूप से उसके विचारों को थाहते—पड़ताल करते हैं और ऐसे किसी लेखक की प्रासंगिकता पर टिप्पणी करना हमारे लिए अपेक्षाकृत आसान होता है, जिसकी रचनाओं में निहित विचार हमारे और हमारे युग के प्रतिनिधि विचारों से मेल खाते हैं। प्राचीन कवियों में आज इसका सबसे अच्छा उदाहरण कबीर हैं। विचारों की समरूपता के कारण ऐसे किसी लेखक की सराहना में हम प्रायः अतिरंजना की सरहदों को भी छूने लगते हैं। लेकिन जिन लेखकों में वैचारिकता का आग्रह इतना मुखर न हो, उनकी प्रासंगिकता को लेकर कोई टिप्पणी करना किसी क़दर मुश्किल होता है।···देवकीनन्दन खत्री एक ऐसे ही लेखक हैं।···

शुरू में ही इस ओर संकेत किया जा चुका है कि देवकीनन्दन खत्री का युग

गहरी राजनीतिक एवं सामाजिक उथल-पुथल का युग था। जिस युग में उन्होंने अपने उपन्यास लिखे, उसमें लेखकों की एक बहुत बड़ी जमात ब्रिटिश साम्राज्य की स्तुति और गौरव गान में ही अपने को सुरक्षित समझती थी। भारतेन्दु-युग के जिन बहुत-से लेखकों को एक जातीय, राष्ट्रीय और जनवादी चेतना के विकास का श्रेय दिया जाता है, शुरू में उसमें भी कितने ही लेखकों ने महारानी विक्टोरिया और ब्रिटिश शासन की नीतियों की प्रशंसा में अपनी रचनाएँ लिखी थीं। आज इस बात के लिए देवकीनन्दन खत्री की तारीफ़ की जानी चाहिए कि उनके यहाँ एक भी पंक्ति ऐसी नहीं मिलती है जिसे इस आरोप के प्रमाण के तौर पर इस्तेमाल किया जा सके। उदाहरणार्थ, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' एक अंग्रेज़परस्त लेखक थे लेकिन देवकीनन्दन खत्री उनकी राजनीति के प्रशंसक न होकर उनकी प्रगतिशील सामाजिक नीतियों के समर्थक थे, जिनमें शिक्षा के प्रसार और हिन्दी के विकास पर बल देना भी शामिल था। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' के बारे में उन्होंने लिखा, "राजा शिव प्रसाद जी के राजनीतिक विचार चाहे जैसे भी रहे हों, पर सामाजिक विचार उनके बहुत ही प्राञ्जल थे और वे समयानुकूल काम करना खूब जानते थे, विशेषत: जिस ढंग की हिन्दी वे लिख गये हैं, उसी से वर्तमान हिन्दी का रास्ता कुछ साफ़ हुआ है।"···उस युग के लेखकों की हिन्दी के स्वरूप और उसके विकास में इनकी भूमिका की चर्चा पिछले अध्याय में विस्तार से की जा चुकी है। यहाँ हमें देखना यह है कि भले ही देवकीनन्दन खत्री में सक्रिय रूप से अंग्रेज़ों के विरोध में कुछ न किया हो, लेकिन उन्होंने उनके समर्थन में भी कभी कुछ नहीं लिखा। इस मामले में उनकी स्थिति भारतेन्दु युगीन उन बहुत-से लेखकों से भिन्न थी, जो पहले ब्रिटिश शासन की नीतियों के समर्थन में लिखते थे और बाद में, एक जातीय एवं राष्ट्रीय चेतना के प्रभाव में, उनके विरोध में लिखने लगे। कुछ लोगों ने इस ओर भी संकेत किया है कि अपने उपन्यासों में विज्ञान की शक्ति का आभास देने का उनका वास्तविक उद्देश्य प्रकारान्तर से ब्रिटिश शासन के विरोध में उसके इस्तेमाल किये जा सकने की सम्भावनाओं को ही उजागर करना है। आगे चलकर दुर्गाप्रसाद खत्री के उपन्यासों में, इसकी जो परिणति हम देखते हैं, जिसके कारण ही उनका उपन्यास 'रक्त मण्डल' ब्रिटिश शासन द्वारा जब्त किया गया था, उस सबको देखते हुए ऐसे किसी वक्तव्य पर बहुत आश्चर्य भी नहीं होना चाहिए।

देवकीनन्दन खत्री की रचनाओं का विश्लेषण करते हुए इस बात की भी कोशिश की गयी है, उनकी रचनाओं में निहित व उनके विचारों का भी प्रामाणिक परिचय मिल सके। उस परिचय के आधार पर उनके बारे में हमारी जो धारणा बनती है वह यही है कि अधिकांश में उन्होंने अपने युग के परम्परागत वैचारिक प्रवाह में अपने को छोड़ दिया और नये विचारों के लिए संघर्ष का जोखिम नहीं उठाया है। उनकी रचनाएँ सनातन हिन्दू आदर्शों के प्रति आग्रहशील हैं। उनके

ज़्यादातर नायक और दूसरे पात्र भी छुआछूत और ऐसी ही दूसरी सामाजिक रूढ़ियों के शिकार हैं। जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा उनके साहित्य में हुई है वे अधिकांश में सामन्ती व्यवस्था और सनातन हिन्दू समाज के परम्परागत मूल्य ही हैं। स्पष्ट ही ये मूल्य आज की दुनिया में पुराने ही नहीं, रूढ़ शब्दावली में प्रगति विरोधी और प्रतिक्रियावादी तक मान लिये जा चुके हैं। ऐसी हालत में देवकीनन्दन खत्री को लेकर जो सवाल ज़रूरी तौर पर उठता है वह यह है कि कोई भी आधुनिक पाठक उनके साहित्य को क्यों पढ़ना चाहेगा ? दरअसल, इस पूरी पुस्तक में, अपनी तरह से, इस सवाल का जवाब देने की कोशिश की गयी है।

सामाजिक जटिलताओं और वैचारिक संघर्ष एवं विकासक्रम की दृष्टि से हम निश्चय ही एक भिन्न युग में रह रहे हैं। जो लेखक परिवर्तन के छिटपुट संकेतों के अलावा अपने युग के वैचारिक संघर्ष में ही किसी महत्त्वपूर्ण और सक्रिय भूमिका का आग्रह न रखता हो, उसके रचनात्मक सरोकार ही जब एकदम भिन्न प्रकार के हों, तब ऐसे लेखक से यहाँ अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि वह हमारे अपने युग के वैचारिक संघर्ष को समझ सकता या उसे तेज़ करने में हमारी सहायता कर पाता ? देवकीनन्दन खत्री जैसे लेखक के साथ हमारा सबसे सही सलूक यही हो सकता है कि हम उस ऐतिहासिक सन्दर्भ को स्पष्ट कर सकें जिसमें उन्हें प्रतिष्ठित करके हम उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका को समुचित ढंग से आँकने-परखने की स्थिति में हो सकें। इस सिलसिले में हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और आलोचक इलाचन्द्र जोशी ने ठीक ही लिखा है—"यही सही है कि यदि हम आज के आलोचनात्मक मानों से खत्रीजी की रचनाओं का मूल्यांकन करने बैठें, तो हमें निराश होना पड़ेगा। यदि हम आज के कला-परीक्षण-सम्बन्धी नये अस्त्रों से उन कथा-कृतियों की चीड़-फाड़ करें, तो सम्भवतः हमारे हाथ कुछ भी न आवे। पर इन सुस्पष्ट कमियों के बावजूद देवकीनन्दन खत्री आज भी जहाँ के तहाँ हैं। आज भी उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास में उनका नाम अमर रहेगा, क्योंकि जिस किसी भी युग में जो भी लेखक हिन्दी कथा-साहित्य के क्रमिक विकास का विवेचन करेगा उसे सबसे पहले 'चन्द्रकान्ता' का उल्लेख करना ही होगा।" स्वयं प्रेमचंद ने हिन्दी की एक सौ सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में 'चन्द्रकान्ता' का नाम भी लिया था और इस बात के लिए उसकी प्रशंसा की थी कि इसके कारण हिन्दी पढ़ने और लिखने का शौक़ लोगों में पैदा हुआ।

यह स्थिति भी अपने में पर्याप्त विरोधाभासपूर्ण लगती है कि जिस तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास की नयी धारा के सूत्रपात के कारण उन्हें एक नये युग के प्रवर्तन का श्रेय मिलता है, उसी कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचक देवकीनन्दन खत्री की इन रचनाओं को साहित्यिक रचनाओं की कोटि में रखने को भी तैयार नहीं थे। देवकीनन्दन खत्री की अपेक्षा शुक्लजी ने किशोरीलाल गोस्वामी को

कहीं अधिक बरीयता दी। लेकिन शुक्लजी का यह निर्णय क्या आज एकदम झूठा नहीं पड़ गया है? किशोरीलाल गोस्वामी और उनके दूसरे समकालीन लेखकों, जिन्हें शुक्लजी ने साहित्यिक कोटि में रखा है, के कितने उपन्यास आज लोग लोग पढ़ते हैं? जबकि किसी व्यवस्थित प्रचार-प्रसार के बिना भी देवकीनन्दन खत्री की रचनाओं के पाठक आज भी मौजूद हैं। स्वयं मेरे पास 'चन्द्रकान्ता' का सन् 1974 में प्रकाशित 3100 प्रतियों वाला साठ वाँ संस्करण है। इससे क्या प्रमाणित होता है? देवकीनन्दन खत्री, अपने युग के, उन बहुत थोड़े-से लेखकों में से एक हैं, भाषा की दृष्टि से जिनकी रचनाएँ आज भी सहज सुपाठ्य हैं। पाठकों से अपने जीवन्त एवं आत्मीय सम्पर्क के मामले में तो उनके युग का कोई दूसरा लेखक उनके आगे कहीं ठहरता ही नहीं है। इसी सबके कारण यदि कुछ लोगों की ओर से यह माँग उठायी जाती है कि भारतेन्दु-युग के अन्तर्गत सिर्फ तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास के प्रवर्तनकर्ता के रूप में देवकीनन्दन खत्री के साथ न्याय नहीं किया जा सकता, बल्कि भारतेन्दु युग के परवर्ती कुछ वर्षों को लेकर उन्हीं के नाम पर उस युग का नामकरण होना चाहिए, तो यह पूरी तरह से ठीक ही है। ऐसी कोई भी माँग उनके ऐतिहासिक सन्दर्भ को ठीक से प्रस्तुत करने की दिशा में एक क़दम हो सकती है।···

अभी कुछ दिन पूर्व हिन्दी के एक आधुनिक लेखक ने, जो देवकीनन्दन खत्री के पुर्नमूल्यांकन में लगे हैं, अपने इण्टरव्यू में इस बात को स्वीकार किया था कि आज के जीवन में भी तिलस्म एवं तिलस्मी साहित्य का महत्त्व है। यह पूछे जाने पर कि भविष्य में कभी वह स्वयं भी क्या तिलस्मी उपन्यास लिखने की सोच सकते हैं, उनके सकारात्मक उत्तर ने बहुतों को चौंकाया होगा। इस सन्दर्भ में व्यक्तिगत रूप से मुझे एडवर्ड अपवर्ड की बात ही ठीक लगती है, खासतौर से इसलिए भी कि देवकीनन्दन खत्री जैसे लेखकों को भी वह न्याय की सम्भावना से आश्वस्त करती है—"प्राचीन ग़ैर यथार्थवादी साहित्य का आज भी कुछ न कुछ महत्त्व है, पर उसका आशय यह नहीं कि आधुनिक ग़ैर यथार्थवादी साहित्य का भी महत्त्व हो। एक आधुनिक तिलस्म पुराने तिलस्मों का कमोबेश सच्चा अनुकरण हो सकता है, लेकिन वह हमारे युग के जीवन के प्रति उतना सच्चा नहीं हो सकता, जितनी पुराने तिलस्मी लेखकों की कृतियाँ उनके अपने युग के प्रति थीं।···"

आज के युग में देवकीनन्दन खत्री की रचनाओं की सबसे बड़ी प्रासंगिकता यही है कि वह एक ऐसे संसार से हमें परिचित कराती हैं, जो उनके बाहर कहीं और न होकर सिर्फ़ उनमें ही स्थित है। दूर की आवाज की तरह उस युग की धड़कनें

और हरारत भी हम तक पहुंचती हैं जिस युग में उनकी रचना हुई थी। आज उनका एक अतिरिक्त महत्त्व यह भी हो सकता है कि उनके सुनियोजित प्रचार-प्रसार के द्वारा हमारे युग की किशोर मानसिकता को विकृत करनेवाले अपराध और यौन-साहित्य की सशक्त वैकल्पिक सम्भावनाओं की खोज भी शायद इनके माध्यम से की जा सकती है।…

परिशिष्ट–1

देवकीनन्दन खत्री की रचनाएं

1	चन्द्रकान्ता	1888-1891
2	नरेन्द्रमोहनी	1893
3	कुसुम कुमारी	1894-1898
4	चन्द्रकान्ता सन्तति	1894-1905
5	वीरेन्द्र वीर अर्थात् कटोरा-भर खून	1895
6	काजर की कोठड़ी	1902
7	भूतनाथ : भाग 1 से 6 तक :	1906-1912

इनके अतिरिक्त 'लैला-मजनूं' और 'गुप्त गोदना'—भाग-1 भी उन्हीं की रचित रचनाएँ हैं जो अब वर्षों से अप्राप्य हैं। कुछ लोग उनकी रचनाओं में 'नौलखा हार' और 'अनूठी बेगम' का भी उल्लेख करते हैं।

परिशिष्ट-II

सन्दर्भ ग्रन्थ

बाबू देवकीनन्दन खत्री स्मृति ग्रन्थ (सं०) : डॉ. गिरीशचन्द्र त्रिपाठी

हिन्दी उपन्यास कोश—1 डॉ. गोपाल राय

हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव : डॉ. गोपाल राय

प्रेमचन्द पूर्व के कथाकार और उनका युग : डॉ. लक्ष्मण सिंह विष्ट

हिन्दी कथा साहित्य : पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (1900-1925) : डॉ. श्री कृष्णलाल

उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार : डॉ. विश्वम्भर मानव

'आलोचना' : त्रैमासिक (पूर्णांक 13) उपन्यास विशेषांक : अक्टूबर, 1954

देवकीनन्दन खत्री (1861-1913) हिन्दी साहित्य के उन निर्माताओं में से हैं, जिन्होंने दूसरी भाषाओं के लाखों पाठकों को हिन्दी सीखने के लिए प्रेरित किया। वैसे तो खत्री जी के रहस्य-रोमांचपरक लोकप्रिय उपन्यास 'साहित्यिक' श्रेणी में नहीं रखे जाते रहे हैं, किन्तु पिछले आठ दशकों से उनके पाठक बरक़रार हैं और खत्रीजी की ख्याति अक्षुण्ण बनी हुई है। हिन्दी उपन्यास के पाठकों की पिछली चार पीढ़ियों में ऐसा कौन-सा व्यक्ति होगा जिसने 'चंद्रकांता', 'चंद्रकांता संतति' या 'भूतनाथ' से अपने पढ़ने की शुरुआत न की हो। खत्री जी को निस्संकोच हिन्दी उपन्यास का जनक कहा जा सकता है।

इस पुस्तिका में हिन्दी कथा-साहित्य के सुपरिचित आलोचक श्री मधुरेश ने देवकीनन्दन खत्री के जीवन और व्यक्तित्व पर तो प्रकाश डाला ही है, उनके तथाकथित लोकप्रिय या तिलस्मी उपन्यासों की दुनिया का ऐसा गहरा साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय विश्लेषण भी किया है, जो खत्रीजी की संपूर्ण सर्जनात्मकता को एक नई आधुनिकता और प्रासंगिकता देता है।

ISBN 81-7201-844-4

पच्चीस रुपये